नर्मदेश्वर मंदिर सुजानपुर के प्रवेश द्वार पर प्रस्तर निर्मित गणेश प्रतिमा (ऊपर)

मुखपृष्ठ : पारम्परिक शिल्पियों द्वारा निर्मित मुखौटे

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी
वर्ष-5, अंक-29, नवम्बर-दिसम्बर, 1989

संपर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि० प्र०
त्रिशूल, शिमला-171003 दूरभाष : 3669, 6846, 4614

वार्षिक शुल्क : दस रुपये, एक प्रति : दो रुपये

क्रम

पाठकीय

जगजीत सिंह (दिल्ली)

विपाशा में 'हिमाचल की हिन्दी कहानी' विषयक लेख पर जो बहस चल रही है उसे पढ़कर ऐसा लगता है कि बहस में भाग लेने वाले अधिकांश लोग अपनी ही कहानियों की चर्चा के बारे में काफी चिंतित और उत्सुक हैं। यहां तक कि लोग अपनी रचनाएं गिनने और इनके महत्व और प्रभाव को लेकर स्वयं बात भी करते हैं। यह व्यवहार काफी हास्यास्पद भी लगता है। क्योंकि लेखकों में अपनी रचना लिख देने के बाद इतना धैर्य तो होना ही चाहिए कि अब इसके अच्छे-बुरे होने और प्रभाव को लेकर वह आलोचकों व पाठकों पर भरोसा करे। जिनके लिए आप लिख रहे हैं यदि उन पर ही भरोसा नहीं तो यह लेखन किसलिए? कुछ लोगों ने कहानीकारों की सूचियां भी यह कहकर गिना दी हैं कि इनके नाम छूट गए हैं। वास्तव में नाम गिनाना और रचनाओं की सूचियां तैयार करना आलोचक का काम नहीं। उसे इतनी स्वतन्त्रता तो होनी ही चाहिए कि वह जिसे जिस काबिल समझता है वही स्थान दे। रचनाकार किसी ऐसी बात को तो स्पष्ट कर सकते हैं जिसे गलत तरीके से समझा गया हो या जहां किसी उठाए गए सवाल का जवाब अपेक्षित हो। लेकिन अपनी रचनाओं को स्वयं 'भारी' कहना या अपने कृतित्व को गिनाना कहां तक उचित है, यह साधारण स्तर पर समझ लेने की बात है।

रोहित (भोपाल)

अंक 27 में रेणु की कहानी 'आजाद परिन्दे' जमीन के टुकड़े की तरह ठोस और मुहब्बत के किशोर अहसास की तरह कोमल लगी। जमीन का इतना करीबी रिश्ता ही किसी रचना को इतना सटीक बना सकता है, जितनी कि रेणु की यह कहानी है। ब्रेख्त की कविताएं और अनुवाद दोनों ही सुन्दर रहे। गिरधर राठी का अनुवाद अच्छा है।

यूं तो इस अंक की सभी कविताएं अच्छी हैं, परन्तु वरयामसिंह का पिता की नसीहतों सा चमकता 'तारा' मन में अटक-सा जाता है। 'मेमना' जो बिकाऊ नहीं है, मगर आने वाले दिनों से बेखबर है, कवि की सहज एवं सशक्त रचनात्मकता का परिचय देता है। ज़ियासिद्दीकी भी जहीन और बढ़िया रहे। प्रफुल्लकुमार भी अच्छे लगे। अवतार एनगिल बिलकुल सपाट और डायरेक्ट थे।

डा० मनोहर लाल का 'गुलेरी जी पर अभियोग' वाला आलेख अपने आप में एक ऐसा दस्तावेज है जो गुलेरी जी के निधन के बाद उनकी पुत्री विजया की उस यातना से हमारा परिचय करवाता है जिसमें से उन्हें एक मिथ्या आरोप के कारण गुजरना पड़ा था।

सुरेन्द्र कुमार (दिल्ली)

अंक 27 में 'निधि' स्तम्भ के तहत रेणु की कुछ रचनाएं दी गई हैं। एक बार फिर से इस महान कथा-शिल्पी की सारी रचनाओं को पढ़ने का मन बना लिया है। अपनी ज़मीन से जुड़ कर लेखन कला का जो मुहावरा रेणु जी ने विकसित किया वह अब देखने को नहीं मिल रहा, यह सही है। ग्रामीण परिवेश और कृषक जीवन को लेकर इधर जो लिखा जा रहा है उसमें अधिकांश औपचारिक, बनावटी और एक तरह के फैशन के तहत लिखा गया लगता है। दरअसल हमारे यहां लेखक जब नगर और महानगर की ओर कूच करते हैं तो एक साथ चलते हैं और जब फिर से गांव की ओर लौटते हैं तो समूह में ही लौट आते है। एक-दूसरे की देखा-देखी में लिखा गया साहित्य जाहिर है गहरे अनुभव से प्रेरित नहीं होता। संभवतः यही कारण है कि आज रेणु जी की तरह अपनी जमीन की धड़कनें लेखन से गायब रहती हैं।

दिनेश शर्मा (ऊना)

विपाशा में धर्मशाला की गोष्ठी में पढ़ी गई कविताएं प्रकाशित हुई हैं। लेकिन इन अंकों में कविताओं पर हुई चर्चा नहीं दी गई। इस तरह की गोष्ठियों में पढ़ी गई कविताएं शायद संपादक के चयन से बढ़कर कवियों की अपनी पसन्द की होती है इसलिए जाहिर है सारी कविताएं बेहतर नहीं भी हो सकतीं। जैसा मुझे याद है इससे पूर्व किसी अंक में रचनाओं पर हुई बहस भी दी गई थी। इस बार ऐसा नहीं किया गया। बहस साथ देने से कविता को समझने और उनका मूल्यांकन देखने का भी मौका मिलता है। इसलिए संभव हो तो भविष्य में गोष्ठियों में पढ़ी गई रचनाओं के साथ बातचीत भी दे दिया करें। यह पाठकों के लिए बहुत उपयोगी रहेगा।

अंजना तिवारी (इलाहाबाद)

अंक 27 में रेणु जी की रचनाओं का चयन उनके कृतित्व के सम्पूर्ण परिचय सहित दिया गया है। इससे जहां रेणु जी की कुछ बेहतरीन रचनाएं पढ़ने को मिलीं, साथ ही उनकी अनेक ऐसी रचनाओं के बारे में भी मालूम हुआ जो अब तक नहीं पढ़ी हैं। रेणु जी के पाठकों के लिए यह निश्चित रूप से उपयोगी है।

विपाशा इतनी शालीनता के साथ छप रही है और इसकी संपूर्ण छवि साहित्यिक-कलात्मक है, अच्छा लगा। आज जबकि पत्रिकाओं की सज्जा चमक-दमक के लोभ में फूहड़ होती जा रही है, ऐसी पत्रिका अलग दिखाई देती है। लेकिन इस अंक में कहानियों का अभाव अखरता है।

संपादकीय

सृजन के नये आयाम

शिमला में स्थापित 'यशपाल सृजनपीठ' ने इसी दिसम्बर में अपना एक वर्ष पूरा किया है। पिछले दिनों सृजनपीठ की ओर से नाहन तथा शिमला में 'सृजन-संवाद' के अन्तर्गत दो दिवसीय साहित्यिक आयोजनों में प्रदेश के अनेक कवियों-कहानीकारों ने अपनी ताज़ा रचनाओं का पाठ किया। सृजनपीठ के अध्यक्ष सुप्रतिष्ठित साहित्यकार श्री निर्मल वर्मा की अध्यक्षता में हुई इन गोष्ठियों में पढ़ी गई रचनाओं पर समीक्षकों ने अपनी टिप्पणियां दीं और उपस्थित लेखकों, पर्यवेक्षकों व श्रोताओं ने प्रत्येक रचना पर बहस में भाग लिया। इस सारी प्रक्रिया में जहां पढ़ी गई रचनाओं का अलग-अलग दृष्टिकोणों से मूल्यांकन हो सका वहीं इस बहाने समकालीन कविता, कहानी और समीक्षा को लेकर भी व्यापक विचार-विमर्श हुआ और इस प्रकार रचना-आलोचना की दोहरी सृजन प्रक्रिया से गुज़रने का यह अनूठा अनुभव रहा।

उपरोक्त दोनों अवसरों पर पढ़ी गई रचनाओं में से चार कहानियां और दो कवियों की कविताएं इस अंक में जा रही हैं और शेष आगामी अंक में प्रकाशित की जाएगी। नाहन के आयोजन में पढ़ी गई राजीव ई० सिंह की कहानी 'दूसरी औरत' इस अंक में 'प्रवेश' के तहत प्रकाशित है। यह एक नवोदित रचनाकार की ऐसी कहानी है जिसके प्रभाव को पाठक स्वयं अनुभव करेंगे। कथा संवेदना की आंतरिक पर्तों को शनैः शनैः उद्-घाटित करने वाले शिल्प तथा भाषा की रवानगी को सहज-सरल गतिशीलता के साथ बाल-मनोविज्ञान की हदों को पार करती हुई यह कहानी हमें कहीं हमारे परिचित लोक तक भी ले जाती है। शिमला के आयोजन में पढ़ी गईं शेष तीन कहानियों में सरल किंतु प्रभावी हास्य, गहरी वेदना और नाटकीय प्रभाव क्रमशः देखे जा सकते हैं।

हिमाचल प्रदेश की समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा का एक विशिष्ट पक्ष उसका लोक-नाट्य है। इस अंक से हम एक नई लेखमाला 'लोक संस्कृति' स्तम्भ के अन्तर्गत शुरू कर रहे हैं। इसमें प्रदेश के विभिन्न अंचलों में प्रचलित नाट्य-शैलियों का विस्तृत परिचय रहेगा। इस बार मंडी जनपद के लोक-नाट्य को लेकर खोज पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत है।

सुरेन्द्र कुमार (दिल्ली)

अंक 27 में 'निधि' स्तम्भ के तहत रेणु की कुछ रचनाएं दी गई हैं। एक बार फिर से इस महान कथा-शिल्पी की सारी रचनाओं को पढ़ने का मन बना लिया है। अपनी ज़मीन से जुड़ कर लेखन कला का जो मुहावरा रेणु जी ने विकसित किया वह अब देखने को नहीं मिल रहा, यह सही है। ग्रामीण परिवेश और कृषक जीवन को लेकर इधर जो लिखा जा रहा है उसमें अधिकांश औपचारिक, बनावटी और एक तरह के फैशन के तहत लिखा गया लगता है। दरअसल हमारे यहां लेखक जब नगर और महानगर की ओर कूच करते हैं तो एक साथ चलते हैं और जब फिर से गांव की ओर लौटते हैं तो समूह में ही लौट आते हैं। एक-दूसरे की देखा-देखी में लिखा गया साहित्य जाहिर है गहरे अनुभव से प्रेरित नहीं होता। संभवतः यही कारण है कि आज रेणु जी की तरह अपनी जमीन की धड़कनें लेखन से गायब रहती हैं।

दिनेश शर्मा (ऊना)

विपाशा में धर्मशाला की गोष्ठी में पढ़ी गई कविताएं प्रकाशित हुई हैं। लेकिन इन अंकों में कविताओं पर हुई चर्चा नहीं दी गई। इस तरह की गोष्ठियों में पढ़ी गई कविताएं शायद संपादक के चयन से बढ़कर कवियों की अपनी पसन्द की होती है इसलिए जाहिर है सारी कविताएं बेहतर नहीं भी हो सकतीं। जैसा मुझे याद है इससे पूर्व किसी अंक में रचनाओं पर हुई बहस भी दी गई थी। इस बार ऐसा नहीं किया गया। बहस साथ देने से कविता को समझने और उनका मूल्यांकन देखने का भी मौका मिलता है। इसलिए संभव हो तो भविष्य में गोष्ठियों में पढ़ी गई रचनाओं के साथ बातचीत भी दे दिया करें। यह पाठकों के लिए बहुत उपयोगी रहेगा।

अंजना तिवारी (इलाहाबाद)

अंक 27 में रेणु जी की रचनाओं का चयन उनके कृतित्व के सम्पूर्ण परिचय सहित दिया गया है। इससे जहां रेणु जी की कुछ बेहतरीन रचनाएं पढ़ने को मिलीं, साथ ही उनकी अनेक ऐसी रचनाओं के बारे में भी मालूम हुआ जो अब तक नहीं पढ़ी हैं। रेणु जी के पाठकों के लिए यह निश्चित रूप से उपयोगी है।

विपाशा इतनी शालीनता के साथ छप रही है और इसकी संपूर्ण छवि साहित्यिक-कलात्मक है, अच्छा लगा। आज जबकि पत्रिकाओं की सज्जा चमक-दमक के लोभ में फूहड़ होती जा रही है, ऐसी पत्रिका अलग दिखाई देती है। लेकिन इस अंक में कहानियों का अभाव अखरता है।

संपादकीय

सृजन के नये आयाम

शिमला में स्थापित 'यशपाल सृजनपीठ' ने इसी दिसम्बर में अपना एक वर्ष पूरा किया है। पिछले दिनों सृजनपीठ की ओर से नाहन तथा शिमला में 'सृजन-संवाद' के अन्तर्गत दो दिवसीय साहित्यिक आयोजनों में प्रदेश के अनेक कवियों-कहानीकारों ने अपनी ताज़ा रचनाओं का पाठ किया। सृजनपीठ के अध्यक्ष सुप्रतिष्ठित साहित्यकार श्री निर्मल वर्मा की अध्यक्षता में हुई इन गोष्ठियों में पढ़ी गई रचनाओं पर समीक्षकों ने अपनी टिप्पणियां दीं और उपस्थित लेखकों, पर्यवेक्षकों व श्रोताओं ने प्रत्येक रचना पर बहस में भाग लिया। इस सारी प्रक्रिया में जहां पढ़ी गई रचनाओं का अलग-अलग दृष्टिकोणों से मूल्यांकन हो सका वहीं इस बहाने समकालीन कविता, कहानी और समीक्षा को लेकर भी व्यापक विचार-विमर्श हुआ और इस प्रकार रचना-आलोचना की दोहरी सृजन प्रक्रिया से गुज़रने का यह अनूठा अनुभव रहा।

उपरोक्त दोनों अवसरों पर पढ़ी गई रचनाओं में से चार कहानियां और दो कवियों की कविताएं इस अंक में जा रही हैं और शेष आगामी अंक में प्रकाशित की जाएगी। नाहन के आयोजन में पढ़ी गई राजीव ई० सिंह की कहानी 'दूसरी औरत' इस अंक में 'प्रवेश' के तहत प्रकाशित है। यह एक नवोदित रचनाकार की ऐसी कहानी है जिसके प्रभाव को पाठक स्वयं अनुभव करेंगे। कथा संवेदना की आंतरिक पर्तों को शनैः शनैः उद्-घाटित करने वाले शिल्प तथा भाषा की रवानगी को सहज-सरल गतिशीलता के साथ बाल-मनोविज्ञान की हदों को पार करती हुई यह कहानी हमें कहीं हमारे परिचित लोक तक भी ले जाती है। शिमला के आयोजन में पढ़ी गईं शेष तीन कहानियों में सरल किंतु प्रभावी हास्य, गहरी वेदना और नाटकीय प्रभाव क्रमशः देखे जा सकते हैं।

हिमाचल प्रदेश की समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा का एक विशिष्ट पक्ष उसका लोक-नाट्य है। इस अंक से हम एक नई लेखमाला 'लोक संस्कृति' स्तम्भ के अन्तर्गत शुरू कर रहे हैं। इसमें प्रदेश के विभिन्न अंचलों में प्रचलित नाट्य-शैलियों का विस्तृत परिचय रहेगा। इस बार मंडी जनपद के लोक-नाट्य को लेकर खोज पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत है।

पिछले दिनों शिमला में एक विशिष्ठ आयोजन हुआ—मुखौटा निर्माण कार्यशाला. इसमें देश के विभिन्न प्रांतों तथा प्रदेश के अलग-अलग अंचलों से आए हुए कुशल मुखौटा निर्माता कलाकारों तथा शिल्पियों ने अपनी विशेषताओं तथा विभिन्न सामग्रियों से आकर्षक तथा भावव्यंजक मुखौटों का निर्माण किया। इस कार्यशाला की प्रलेखनपरक रपट भी इस अंक में शामिल है।

'पाहुन'—यह शीर्षक है हमारे नये स्तम्भ का—जिसमें प्रस्तुत है कवि मनीषी स्व० सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' द्वारा लिखित यात्रा संस्मरण—'मौत की घाटी में'—जो उन्होंने सन् 1935 में कुल्लू-मनाली-रोहतांग की अपनी यात्रा के अनुभव पर लिखा था। 'पाहुन' के अन्तर्गत हम हिमाचल प्रदेश के बाहर रहने वाले विशिष्ठ एवं प्रमुख; नए-पुराने रचनाकारों की उन कहानियों, कविताओं, लेखों, संस्मरणों को प्रकाशित करेंगे जो कि उन्होंने हिमाचल के किसी स्थान विशेष में रहकर या यहां के सांस्कृतिक तथा परिवेशगत लगाव के साथ लिखी हो।

संस्कृति और साहित्य के अभिन्न अन्तर्सम्बन्धों को अपनी सुपरिचित सूक्ष्म तथा गहन दृष्टि से उद्घाटित करने वाले निर्मल वर्मा का एतत् विषयक लेख इस अंक में अग्रलेख है। यह हमें नये सिरे से उन कुछ बुनियादी सवालों को समझने और उनके उत्तर ढूंढ़ने की दिशा प्रदान करता है, जो कि लेखक, पाठक और समीक्षक को समय-समय पर उद्वेलित करते रहे हैं।

संस्कृति और साहित्य

☐ **निर्मल वर्मा**

आजकल हम विज्ञान या साहित्य या कला की चर्चा अधिकार पूर्ण ढंग से करते हैं, तो एक क्षण के लिए भी सन्देह नहीं होता कि एक समय में इनका अलग से कोई आस्तित्व नहीं था—प्लेटो के दर्शन-शास्त्र में 'विज्ञान' का कहीं अलग से उल्लेख नहीं मिलता—न ही 'काव्य', नाटक और मूर्ति-कला के उतने सीधे-सपाट कटघरे थे, जिन्हें आज खास अनुशासनों में विभाजित किया जाता है। यह भी उल्लेखनीय है कि जिस शब्द का उल्लेख आज शायद हर सगोष्ठी और सेमीनार में किया जाता है—'संस्कृति' अथवा कल्चर, उसका कोई विशिष्ट आत्मसजग बोध उन समाजों में नहीं मिलता, जिन्हें आज हम सबसे अधिक सभ्य और सांस्कृतिक मानते हैं—यूनानी अथवा भारतीय समाज। एक खास रहन-सहन में रहने वाले लोग जो कुछ विश्वासों और आस्थाओं में सांझा करते थे, इन आस्थाओं को अपने साहित्य और कलाकृतियों में रूपायित करते थे, वह यदि उनकी संस्कृति थी तो वह इस तरह उनके जीवन में रसी-बसी थी, कि उसे अलग से एक बौद्धिक अवधारणा या कैटेगरी के रूप में परिभाषित करना असंभव था। दुनिया के जिस कोने से लोग सृष्टि और अपने संसार और उसके आकाश में विचरते देवी-देवताओं की परिकल्पना करते थे, इससे जो अन्दृष्टि उन्हें प्राप्त होती थी, उसे अपने में गुनने और दूसरे तक पहुंचाने के लिए जिस भाषा का उपयोग करते थे—और यह कहना असंभव था, कि भाषा उनकी अन्तदृष्टि की वाहक है अथवा वे 'भाषा' के वाहक हैं, 'संस्कृति' इन सब तत्वों से बनी अस्मिता में वास करती थी—जिसमें भूगोल का कोना, उस कोने से देखने वाली अन्तदृष्टि और उसे संप्रेषित करती भाषा सब शामिल थे।

आप देखेंगे, यहां मैंने संस्कृति की जो अस्पष्ट-सी परिभाषा प्रस्तुत की है, उसमें केवल वे ही तत्व महत्वपूर्ण नहीं हैं, जिनका आविभाव मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों से होता है—कला, भाषा, अन्तदृष्टि और सामूहिक विश्वासों और रहन-सहन की प्रथाओं ओर सामूहिक विश्वासों की संहिताएं बल्कि इनके साथ अनिवार्य-रूप से एक अन्य तत्व भी जुड़ा है, जिसके बिना कहीं भी संस्कृति का विकास असंभव होता। और वह तत्व है—भूगोल, यानी वह परिवेश, स्थल और वायुमंडल, जिसके भीतर रहकर एक मानव समूह न केवल अपनी जैविक-सत्ता प्राप्त करता है, बल्कि जिसके कारण ही जैविक-सत्ता को इतना अवकाश, इतना समय, इतना सातत्य उपलब्ध हो पाता है—कि वह अपनी कोई अस्मिता और पहचान गढ़ सके। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि किसी संस्कृति का निर्माण न केवल मनुष्य द्वारा होता है, बल्कि उस शक्ति के द्वारा भी, जो मनुष्येतर है, जिस के बनाने में मनुष्य का कोई हाथ नहीं—प्रकृति, और जब मैं

'प्रकृति' कहता हूं, तो सीमित अर्थ में नहीं—सिर्फ उस शक्ति के अर्थ में नहीं, जो मनुष्य के बाहर है—हवा, पहाड़, जंगल, सूर्य या समुद्र, बल्कि उस अदृश्य और सार्वभामिक शक्ति के रूप में भी, जो मनुष्य के भीतर है, जिसे हम मानवीय प्रकृति या 'स्वभाव' कहते हैं। जो इस धरती पर मनुष्य जैसे जीव के मात्र-अस्तित्व, उसकी होम्यो-सेपियन सत्ता में वास करती है।

प्रकृति की यह दुहरी भूमिका उल्लेखनीय है। वह सिर्फ एक 'संस्कृति' को जीवंत रहने का संरक्षण-मात्र ही प्रदान नहीं करती। बल्कि कहीं बहुमूलगामी स्तर पर उसके स्वभाव को रूपायित करने में भी योग देती है। यह गलत नहीं होगा, अगर हम कहें कि संस्कृति का यदि एक छोर मानवीय सृजनात्मकता में निहित है तो दूसरा छोर उन अज्ञात और अंधेरी शक्तियों में जिन पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं। मनुष्य की सृजनात्मकता और सृजित होते हुए मनुष्य की प्रकृति, दोनों प्रक्रियाएं एक साथ चलती हैं, और संस्कृति का रूप दो फार्म, इन दोनों प्रक्रियाओं के अन्तर्गुंफित संबंध और तनाव द्वारा ही निर्मित होता है।

यदि मैं इस तथ्य की ओर आपका ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहता हूं, तो इस लिए भी कि संस्कृति की यह अवधारणा उससे बहुत भिन्न है, जिसका विकास यूरोप में हुआ है, जिसे हम 'कल्चर' के नाम से जानते हैं। कल्चर के जितने उपमान हैं— संगीत, कविता, नाटक, चित्र और मूर्तियां और इमारतों का निर्माण करने वाली वास्तुकला, उसमें वे समस्त कर्म और कृतियां शामिल हैं, जिनका "सृजन" मनुष्य करता है। इसीलिए वे मूलभूत अर्थ में 'प्रकृति' से भिन्न हैं, जो मनुष्य के जन्म से पहले थी और तब भी रहेगी, जब इस धरती पर मनुष्य नहीं रहेगा। प्रकृति जो शाश्वत और चिरन्तन है। ग्रीक मनीषा में जो यूरोपीय संस्कृति की जननी, उसका आदि-स्रोत रही है, उसमें संस्कृति और प्रकृति के इस भेद को बराबर रेखांकित किया जाता था। मनुष्य नश्वर है। उसके शब्द और कर्म चाहे कितने ही महान क्यों न हों, एक बार संपन्न हो जाने के बाद नष्ट हो जाते हैं…विस्मृति की धूल में हमेशा के लिए लोप हो जाते हैं। किन्तु उन्हें जीवित रखा जा सकता है। एक रास्ता है कि हम उसके 'हीरोइक' कर्मों और वचनों को रिकार्ड कर सकें, जिससे 'इतिहास' का जन्म होता है—इतिहास जो विस्मृति के विरोध में मनुष्य के कर्मों को अमरत्व प्रदान करता है। दूसरा रास्ता है, कि वह ऐसी वस्तुओं का निर्माण कर सके—जो समय का सामना कर सकें। उतनी ही कालातीत और शाश्वत जितनी प्रकृति है, कला और साहित्य का सृजन इसी आकांक्षा से उत्प्रेरित होता है। यदि इतिहास का जन्म काल के विरोध में होता है—तो कलाकृति का जन्म 'प्रकृति' के समकक्ष कालातीत बनने की लालसा में।

प्रकृति के समक्ष, किन्तु उसके अनुरूप नहीं, अगर उसके विरोध में नहीं, तो उससे पृथक् अवश्य—यूरोपीय संस्कृति का विकास प्रकृति से अपना पार्थक्य, अपना अलगाव एक शब्द में कहें, तो उससे अपनी स्वायत्तता प्रतिष्ठित करने के प्रयास में निहित है। यह संयोग नहीं कि जिन नागर-राज्यों में ग्रीक संस्कृति का विकास हुआ और जो बाद में यूरोप की नागर-सभ्यता का आदर्श बनी, सिटी-स्टेट का राज्य-दर्शन, वह प्रकृति के अराजक फैलाव और आतंक से अलग-थलग अपनी स्वायत्त और सुरक्षित चहारदीवारी के भीतरी ही संभव हो सकता था।

संस्कृति की यह अवधारणा, स्पष्ट ही उससे बहुत भिन्न है, जो हमने ऊपर दी थी। जहां मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति, प्रकृति के समक्ष अथवा उसके विरोध में नहीं— उसके साथ जुड़े अन्तर्गुंफित संबन्धों में अभिव्यक्त और उद्घाटित होती है। किन्तु जैसा आप देखेंगे—दोनों

अवधारणाओं के बीच, जिन्हें हम स्थूल रूप से संस्कृति के प्रति यूरोपीय और भारतीय अवधारणाएं मान लेते हैं, एक तत्व समान है और वह है मनुष्य का प्रकृति से संबन्ध। यूरोपीय परम्परा में संस्कृति मनुष्य को प्रकृति से स्वतन्त्र बनाती है, ताकि वह अपने कृतित्व में प्रकृति की ही तरह शाश्वत हो सके। गैर-यूरोपीय परम्पराओं में विशेषकर भारतीय परम्परा में प्रकृति स्वयं मनुष्य के कृतित्व में दाखिल हो कर उसे दैविक शक्ति प्रदान करती है। एक मनुष्य स्वयं अपनी सृजनात्कम-शक्ति का स्रोत है। दूसरे में 'मनुष्य' केवल एक माध्यम है, जिसका आलंबन लेकर एक गैर-मानवीय शक्ति अपने को विभिन्न कलाओं में सृजित करती है। संस्कृति में साहित्य या किसी भी कलाकृति की भूमिका का विश्लेषण करते समय हमें इस अन्तर को ध्यान में रखना होगा। यहां मुझे अनायास कुमारस्वामी का कथन याद आता है, जो इन दो सांस्कृतिक परम्पराओं के अन्तर को बहुत तीखे ढंग से व्यक्त करता है—यदि हम कलाकार से पूछें, कि उसने चित्र किस के लिए बनाए हैं, यदि वह सच्चे अर्थ में कलाकार हैं, को उसका निर्भीक, एकटूक उत्तर होना चाहिए—'ईश्वर के लिए।' हम इस उत्तर से सहमत न भी हों, तो भी वह स्वीकार करना होगा कि यूरोप की सेक्यूलर, धर्म-निरपेक्ष परम्परा में पला-पोषित कोई आधुनिक चित्रकार यह उत्तर नहीं दे सकेगा।

मैंने अभी यूरोपीय परम्परा के लिए सेक्यूलर शब्द इस्तेमाल किया है, जिसका अनुवाद हम सुविधा के लिए अकसर 'धर्म-निरपेक्षता' के अर्थ में करते हैं। किन्तु 'सेक्यूलर' की यह बहुत भ्रामक और सरलीकृत परिभाषा है। यूरोपीय संस्कृति इस अर्थ में सेक्यूलर नहीं है, कि वह ईश्वर, धर्म या आस्था के प्रति तटस्थ या विमुख रही है और भारतीय-संस्कृति इस अर्थ में धार्मिक नहीं है, कि वह जीवन के सांसारिक, लौकिक आकर्षणों के प्रति उदासीन रही है। यदि ऐसा होता, तो हम 'महाभारत' को क्या कहेंगे, भारतीय संस्कृति का महाकाव्य, जो जीवन की लौकिक, कार्यकलापों और मनुष्य के अति मानवीय अन्तर्द्वन्द्वों से अटा पड़ा है। एक ऐसे मानसिक परिवेश के अन्तर्द्वन्द्व, जो हम अपनी प्रकृति में शुद्ध रूप से सेक्यूलर हैं··· यदि आधुनिक भारतीय साहित्य के संदर्भ में, हम प्रेमचन्द अथवा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यासों का ही उदाहरण लें, तो बात और भी स्पष्ट हो सकेगी। ये उपन्यास भले ही रचे गए हों, जो एक धार्मिक संस्कृति के भीतर रचे गए हों, मनुष्य के उन जीवन पक्षों से उलझते हैं, जो उसके दैविक, सामाजिक अथवा स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की विषम और यातनामय समस्याओं से जुड़े हैं, जिन्हें हम बिना किसी झिझक के मनुष्यों का इहलौकिक और पार्थिव संसार, एक शब्द में, उसका 'सेक्यूलर' यथार्थ मान सकते हैं। दूसरी तरफ जिस यूरोपीय संस्कृति को हम सेक्यूलर अथवा धर्म-निरपेक्ष मानते आये हैं, उसमें टी. एस. एलियट की अन्तिम कविताओं अथवा दॉस्तोयवस्की और काफ्का के उपन्यासों की रचना हो सकती है, जो अपनी शक्ति और जीवन्त प्राणवत्ता सीधे-साधे उन स्रोतों से संचित करते हैं, जिन्हें धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अथवा मेटाफिजिकिल कहे बिना काम नहीं चलता।

क्या यह साहित्य और संस्कृति के बीच एक विरोधाभास है, जिसका कोई उत्तर नहीं? अथवा कहीं धर्म और संस्कृति की हमारी परिभाषाओं में ही कोई खोट या उलझन है, जिसके कारण यह विरोधाभास उत्पन्न होता है? महत्वपूर्ण प्रश्न यह नहीं है कि एक सेक्यूलर संस्कृति में एक धार्मिक कलाकृति का जन्म कैसे होता है, बल्कि यह कि क्या उस कृति की धार्मिकता इसी बात में तो निहित नहीं है, कि वह सेक्यूलर संस्कृति की अनास्था का अतिक्रमण करने का प्रयास वाली है, जहां वह शून्य में अपनी अर्थवत्ता खोज सके? दूसरे शब्दों में दॉस्तोयवस्की और

काफ्का के उपन्यास गैर-धार्मिक, सेक्यूलर संस्कृति में उपजी ही कृतियां हैं, धार्मिक उपन्यास नहीं, बल्कि किसी ऐसी धार्मिक आस्था को टटोलती हुई कलाकृतियां, जिसके बल पर वे अपने परिवेश, अपने समाज, अपनी संस्कृति की शून्यता का अतिक्रमण कर सकें, हाइडगर के शब्दों में एक ऐसी दुनिया जहां से समस्त देवता विदाई ले चुके हैं।"

दूसरी ओर ऐसे समाज आज भी मौजूद हैं जिन्हें आधुनिक समाजशास्त्र की शब्दावली में परंपरागत समाज माना जाता है; जिनमें धार्मिक संस्कृति के सब उपमान, विश्वास, आस्थाएं और कर्मकाण्ड आज भी जीवित हैं; जिन्हें आधुनिक युग की सेक्यूलर शक्तियों ने चाहे कितना क्षीण और जर्जरित क्यों न कर दिया हो, किन्तु जिनके सहारे मनुष्य आज भी अपने जीवन की अर्थवत्ता खोजता है। प्रेमचन्द के नायक होरी की यातना यह नहीं है, या प्रमुख रूप से यह नहीं है, कि आर्थिक व्यवस्था ने उसे कितना कुचल डाला है, बल्कि यह कि इस व्यवस्था में वह अपने उन दायित्वों को संपन्न नहीं कर पाता, जो उसके 'धर्म' की निकष और कसौटी हैं। यहां प्रश्न आस्था या अनास्था, ईश्वर में विश्वास के अभाव में आत्मिक शून्यता का नहीं है। प्रेमचन्द के पात्रों की यातना उसकी विश्वासहीनता में नहीं, उसकी साधनहीनता में है, जिसके कारण वे अपने 'धर्म' को अपने जीवन में कार्यान्वित नहीं कर पाता, वह चाहे कर्त्तव्य के रूप में हो या कर्मकाण्ड के रूप में। इससे बढ़कर और क्या यातना हो सकती है कि होरी मरते क्षण 'गोदान' के लिए भी पैसे नहीं जुटा पाता, जो उसकी आत्मा को इस लोक में न सही, परलोक में कोई शान्ति दे सके। प्रेमचन्द का उपन्यास अपने समस्त कार्य-कलापों में सेक्यूलर होता हुआ भी अपने अन्तिम संदर्भों और अर्थों में जिन धार्मिक मिथकों से अनुप्राणित होता है, क्या कभी यूरोपीय उपन्यासों में उसकी कल्पना की जा सकती है? यहां मैं प्रेमचन्द के उपन्यासों का साहित्यिक मूल्यांकन नहीं कर रहा, सिर्फ समाज, धर्म और संस्कृति की उस ऐतिहासिक पीठिका की ओर संकेत करना चाहता हूं, जिसके भीतर एक साहित्यिक कृति अपना विशिष्ट चरित्र और स्वभाव ग्रहण करती है।

यह आश्चर्य की बात ही मानी जाएगी, कि पिछले दो सौ वर्षों में हमने अपनी कला और साहित्य का मूल्यांकन करते समय इन दो संस्कृतियों के बीच अन्तर को भुला दिया। अठाहरवीं शताब्दी के बाद जिस तरह यूरोपीय संस्कृति ने दुनिया की शेष संस्कृतियों और उसकी कलाओं को अपनी मूल्य-व्यवस्था और सौन्दर्यशास्त्र की कसौटियों पर अच्छा या बुरा साबित करने का प्रयास किया, यह बात तो समझ में आती है, किन्तु जिस तरह स्वयं इन संस्कृतियों ने अपनी मूल प्रेरणाओं को विस्मृत हो जाने दिया, यह एक ऐसी ऐतिहासिक दुर्घटना है, जिसके परिणाम आज भी भुगत रहे हैं। विवेकानन्द जैसे मनीषी जब यूरोपीय मूर्तिकला को ग्रीक कला की तुलना में हेय और निकृष्ट मानते थे तो सिर्फ इस कारण नहीं कि ग्रीक मूर्तियां उनकी सौंद्रय-रूचि का उत्कृष्ट आदर्श थी, वल्कि इसलिए भी कि अपने समस्त 'भारत प्रम' के बावजूद वे अपने समाज के उस मूल धार्मिक संस्कार से अपरिचित थे, जो यदि एक तरफ अद्वैत-दर्शन रच सकता है तो दूसरी तरफ नटराज की अद्भुत मांसल लय और सौंद्रय 'फार्म' की परिकल्पना भी कर सकता है। मैंने यदि जानबूझ कर विवेकानन्द का उदाहरण दिया तो इसलिए कि वह बंगाल के उस यूरोपीय-संस्कारों के वुद्धिजीवी वर्ग से बिल्कुल अलग थे, जिन्हें अपनी संस्कृति और परंपरा का कोई ज्ञान नहीं था। अपने अगाध परंपरा-बोध के बावजूद विवेकानन्द जैसे मनीषी 'धर्म' का अर्थ केवल अध्यात्म ज्ञान तक ही सीमित रख पाते थे, समाज में उसकी एक

ऐसी व्यवहारिक और नैतिक भूमिका हो सकती है, जो उसके सौन्दर्यशास्त्र को गढ़ सके, और उसके साहित्य और कलाओं का जीवन्त संदर्भ प्रेरणा-स्रोत बन सके, जो किसी भी यूरोपीय समाज, प्राचीन अथवा आधुनिक समाज में संभव नहीं था। इसका बोध यदि उन्हें होता, तो वे इतने सतही और सरलीकृत स्तर पर भारतीय मूर्तिकला की तुलना ग्रीक कला से न करते। बात क्योंकि साहित्य की रही है, इसलिए मैं यूनान की मूर्तिकला को अलग छोड़ कर उसी संस्कृति से उद्भूत उसके एक अमर और असाधारण महाकाव्य का उल्लेख करना चाहूंगा—इलियड। यह महाकाव्य उन समस्त काव्यात्मक रसों और गुणों से भरपूर है, जो हर समय और समाज के लिए शाश्वत-रूप से प्रासंगिक है, किन्तु मैं उनमें न जा कर यहां सिर्फ उसके एक ऐसे केन्द्रीय गुण की ओर संकेत करना चाहूंगा, जो उसे विशेष रूप से एक विशिष्ट समाज और संस्कृति का महाकाव्य बनाता है। ग्रीक संस्कृति की यह अद्वितीय खोज थी कि इस दुनिया को अनेक दृष्टियों से देखा जा सकता है। कोई एक दृष्टि दूसरी दृष्टि से बुरी या बेहतर साबित नहीं की जा सकती। आप देखेंगे कि जहां ग्रीक लोकतंत्र की जड़ में 'दृष्टियों की यह असीम भिन्नता' विराजमान है, वहां 'इलियड' जैसे महाकाव्य के रचने में होमर का केन्द्रीय प्रेरणा-स्रोत भी है। यह इलियड का रचयिता संपूर्ण रूप से निष्पक्ष और निरपेक्ष है। वह ग्रीक नायकों को उसी दृष्टि से परखता है, जिससे उनके विरोध में संघर्षरत ट्रोजन शूरवीरों को, और जिस स्वर में वह एचीलिस के शौर्य का बखान करता है, उसी स्वर में वह उसके शत्रु हैक्टर की वीरता का भी गुणगान करता है। होमर की यह अटूट कलात्मक निरपेक्षता, उसकी यह विलक्षण दृष्टि, उसे अपनी संस्कृति से मिली थी, जिसके बिना न इलियड की काव्यात्मक गरिमा, न यूनानी दर्शन की 'द्वन्द्वात्मक मेधा' अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच पाती। अब ज़रा एक क्षण ठहर कर हम अपने से पूछें कि एक नितान्त दूसरी संस्कृति के महाकाव्य 'महाभारत' की केन्द्रीय दृष्टि क्या वही थी, जो इलियड के लेखक की थी। क्या व्यास अपने महाकाव्य के नायकों-प्रतिनायकों कौरव और पांडवों के प्रति उसी तरह निष्पक्ष थे जैसे होमर? स्पष्ट उत्तर होगा, नहीं व्यास अपनी अद्भुत सम्यक् दृष्टि के बावजूद अन्तिम, निर्णयात्मक क्षणों में निरपेक्ष थे। इसलिए नहीं कि निरपेक्ष रहने का दुर्लभ कलात्मक सामर्थ्य उनमें नहीं था, अथवा वह उस सामर्थ्य के कलात्मक सौष्ठव से अपरिचित थे। महाभारत में अनेकों ऐसे प्रसंग नहीं आते हैं, जहां लेखक ने पांडवों की अभिलाषाओं, लिप्साओं और महत्वांकाक्षाओं की क्षुद्रता और नैतिक दुर्बलताओं का उतना ही निर्मम और भयावह चित्र खींचा है। जितना कुरू पुत्रों के पापमय आचरण का किन्तु पक्ष और विपक्ष के ऊपर एक अन्य केन्द्रीय मुल्य था—धर्म जिसका विवेक उन्हें भारतीय संस्कृति से मिला था। एक ऐसा मूल्य, जिसके बिना महाभारत की परिकल्पना असंभव है। धर्म के आधार पर पांडवों की विजय होती है, किन्तु चूंकि 'धर्म' की अवधारणा किसी नैतिक सूक्ति, में नहीं बांधी जा सकती, इसलिए वह अपने स्वरूप में अत्यन्त द्विविधात्मक का भी है। कृष्ण को छोड़ कर महाभारत का कोई पात्र नहीं जिसमें स्वयं धर्मराज युधिष्ठिर शामिल हैं। जो धर्म और अधर्म का संपूर्ण विवेक रखते हों। यही कारण है महाभारत का लेखक यदि धर्म के आधार पर पांडवों को विजय दिलवाता है तो उसे अन्तिम रूप से उस जीत को इतना संदिग्ध भी बना देता है। कहना न होगा, कि धर्म की केन्द्रीयता के कारण महाभारत भारतीय संस्कृति का महाकाव्य है, किन्तु धर्म की इस द्विविधा के कारण ही वह ऐसी महान कलाकृति बन पाया है। एक तरह से महाभारत में 'द्विविधा' की वही भूमिका है, जैसे इलियड में विभिन्न दृष्टियों की निरपेक्ष

द्वन्द्वात्मकता की।

यदि मैंने यहां इन दो संस्कृतियों के महाकाव्यों और यूरोपीय तथा भारतीय साहित्य की कुछ आधुनिक कलाकृतियों का उदाहरण दिया, तो सिर्फ इसलिए कि हम संस्कृति और उसके जातीय साहित्य उन दोनों के बीच अन्तर्संबंधों को सही-सही रेखांकित कर सकें। उपरोक्त विश्लेषण में आपने पाया होगा कि यूरोपीय अथवा भारतीय साहित्य का चरित्र अथवा प्रेरणा-स्रोत चाहे एक दूसरे से कितना भिन्न क्यों न रहा हो, एक अद्भुत समानता उनके बीच है। साहित्य की हर अनुपम कृति अपने केन्द्रीय बिम्ब और रूपक, अपनी परंपरा के उन मूल विश्वासों अथवा शंकाओं से प्राप्त करती है जिसमें समाज के सदस्य सांझा करते हैं। आखिर एक संस्कृति मनुष्य के उन आत्मबिम्बों का संयोजन मात्र है, जो उसके साहित्य और कला में अपना अस्तित्व और जीवन्त रूप प्राप्त करते हैं। मध्यकाल के भक्तिकाव्य का रस यादि उत्तर से से दक्षिण तक प्रवाहमान था। तो इसलिए की आधुनिक यातायात के साधनों के अभाव के बावजूद उस कविता के बिंब और रूपक एक ऐसी धार्मिक परंपरा और सांस्कृतिक संस्कार से आते थे, जिनसे समाज के सब वर्ग अनपढ़ लोगों से लेकर कलाविज्ञान विद्वानों तक, सब परि-चित थे। दॉस्तोयवस्की रूसी लेखक थे लेकिन उनके उपन्यासों के नायकों की आध्यात्मिक यातना में यूरोप की ईसाई आत्मा वास करती थी। इसलिए वह एक दुर्लभ लेखक अवश्य हों, किन्तु उनकी कृतियों की संप्रेषणीयता असंदिग्ध थी। भारतीय समाज के सन्दर्भ में प्रेमचन्द के बारे में यह सीमित अर्थ में ही कहा जा सकता है, क्योंकि उनका आग्रह सामाजिक विषमताओं को अवश्य व्यक्त करता था, उस गहरे सांस्कृतिक संकट को नहीं; जिसके भीतर से समूची भारतीय संस्कृति गुज़र रही थी। किन्तु इस कलात्मक सीमा के बावजूद प्रेमचन्द की कृतियां उत्तरी भारत के समाज में इतनी व्यापक संप्रेषणीयता प्राप्त कर सकीं तो इस लिए कि वह आत्म उन्मूलित होते व्यक्ति की व्यथा को ऐसे संस्कारगत बिंबों में व्यक्त करते थे—चाहे वह पंच-परमेश्वर की धर्म परायणता हो अथवा बड़े घर की बेटी का संस्कार, जिनमें समाज के अन्य सदस्य बहुत सहजता से सांझा कर लेते थे।

आज जिसे हम संस्कृति का संकट मानते हैं, जिससे समूचा पश्चिमी समाज इतने भया-वह रूप से आक्रान्त है, किन्तु जिसकी अभिशप्त छाया पिछले दशकों में भारतीय समाज पर भी पड़ी है, तो उसका कारण टेलीविजन का प्रसार अथवा जन-मानस कुंठित और कुत्सित करता हुआ मास-मीडिया' का आतंक नहीं है। ये हमारी सांस्कृतिक बीमारी के महज़ ऊपरी लक्षण हैं। उसका मूल या मुख्य कारण नहीं। मूल कारण, मेरी समझ में, आधुनिक औद्योगीकरण की चोट से उस संस्कृति का विश्रृंखलित हो जाना है, जो एक समय में समाज के आत्म बिम्बों को संयोजित करती थी। ये 'आत्म बिम्ब, कहना न होगा, मनुष्य के आन्तरिक लगावों से अनुप्राणित होते थे, जिनमें तीन लगाव प्रमुख थे—प्रकृति से लगाव, परंपरा से लगाव, और अन्त में अपने आत्म से लगाव। आज जब प्रकृति स्वयं उपभोग की वस्तु बनकर तहस-नहस हो चुकी है और परंपरा वर्तमान से खंडित केवल अतीत की वस्तु, तो आश्चर्य नहीं कि व्यक्ति का 'आत्म' भी सिकुड़ कर केवल उसके अकेले और निराश्रित 'अहम' में विलगित हो जाए। इस अकेलेपन में कलाकार का अकेलापन शायद सबसे अधिक यातनामय है। सृजन-प्रक्रिया चाहे अकेलेपन में होती हो, किन्तु उसकी उपज, साहित्य और कलाकृति की संपूर्ति हमेशा दूसरे तक पहुंचने, संप्रेषित होने में ही चरितार्थ होती है। किन्तु यदि संस्कृति के वे केन्द्रीय संदर्भ बिंदु और बिंब

लुप्त हो जाएं, जो एक कलाकृति से निकलकर, समाज के अन्य सदस्यों को झंकृत करते हैं झिझोड़ते हैं, तो वह कलाकृति या तो महज एक कला-वस्तु बन कर रह जाती है, सिर्फ कुछ संभ्रांत लोगों की रूचि और भोग तक सीमित, अथवा भीड़ के मनोरंजन का एक उपभोग्य साधन जिसमें भले ही बहुत लोग सांझा करते हैं, किंतु जिसकी उपयोगिता एक बार भोग लेने के बाद समाप्त हो जाती है---और लोग फिर किसी दूसरी फिल्म, किसी दूसरे बेस्ट सेलर, किसी दूसरे मनोरंजन की प्रतीक्षा करने लगते हैं। या एक तीसरी स्थिति भी है, जब लेखक अपने कृतित्व को न महज एक कला-वस्तु, न मनोरंजन का साधन बनाने का जोखिम उठाता है। तब वह कृति चाहे अरण्य विलाप से अधिक महत्व न रखती हो, किन्तु उस विलाप में खोये हुए वे समस्त स्मृतियां और संदर्भ अनुगूंजित होते हैं, जो एक समय में साहित्य को उसकी संस्कृति से जोड़ते थे। आज का लेखक साहित्य और संस्कृति के अलगाव की चरम स्थिति में जीता है। जब बैंकर के शब्दों को कुछ बदल कर कहें, तो वह सिर्फ यह कह सकता है—मैं अब लिखना नहीं चाहता, मैं अब नहीं लिखा सकता, मैं लिखता रहूंगा...।"

[प्रभात सदन, क्लिफ ऐण्ड एस्टेट, शिमला-171001]

प्रश्नों की अरण्यानी

□ प्रभाकर श्रोत्रिय

नरेश मेहता अपनी परवर्ती कविताओं में निरंतर ऊर्ध्वचेतस होते गए हैं। 'अरण्या' उनकी इस यात्रा का 'ब्रह्मकमल' है। मुझे और शायद अनेक पाठकों को भी यह देखकर विस्मित होना पड़ा है कि जो कवि अपनी कथा-कृतियों में यथार्थ के इतने पास है (सम्पृक्ति की हद तक पास), वही कविता में वानस्पतिक, वैष्णवी, औपनिषदिक और पैगम्बरी कैसे हो जाता है ? क्या एक ही रचनाकार की कविता और गद्य-कृति में इस तरह का विभाजन संभव है ? क्या गद्य और कविता की सर्जना में ही ऐसा कोई मौलिक या तात्त्विक भेद होता है ? क्या यह बैलगाड़ी में खिंचने और 'पुष्पक विमान' में उड़ने जैसी भिन्नता होती है ? नरेश मेहता 'अरण्या' की एक कविता में कहते हैं :

> **यदि तुम मनुष्य को/केवल धरती पर ही देखना चाहते हो/तो मेरी कथा-कृतियां पढ़ो/जहां वह घटनाओं के सलीब पर/देश-काल में आबद्ध घटित हो रहा है/और इतिहास बनने की त्रासदी भोग रहा है।**
>
> **......**
>
> **परन्तु यदि मनुष्य में ही/इस देश-काल के पाश से मुक्त हो जाने की/केवल क्षमता ही नहीं है/बल्कि वह उस पुकार का श्रोता भी है/जो आकाशों के आकाश/परम व्योम से आती है/और उसे पैगम्बरत्व प्रदान करती है/अक्षर बनाती है।**

कविता अंत में कहती है :

> **इसलिए व्यक्ति का/नहीं—/मनुष्य मात्र का चैत्य-पुरुष बनना ही मेरा काव्य है।**

पिछले दिनों, विशेषत: कवियों द्वारा, लगातार कहा जाता रहा कि प्रत्येक कवि, यहां तक कि प्रत्येक कविता के मूल्यांकन का मानदंड अलग होता है। संभवतः वह काव्यशास्त्र की पारंपरिक जड़ता का खंडन हो; संभवतः वह इधर के काव्य-मानस और काव्य-सृष्टि की त्वरित गतिशीलता का प्रतिपादन हो; जो हो, इसमें सच का अंश अवश्य है, लेकिन सनक का भी कम योगदान नहीं है। परन्तु यह बहस मुझे यहां नहीं उठानी है; सोचना केवल यह है कि नरेश मेहता ने अपने गद्य और काव्य के बीच जो अंतराल—बल्कि द्वैत खड़ा किया है, क्या उसके

विशेष संदर्भ में उनके कथा-मानस और कवि-मानस के द्वैत का स्वतंत्र विवेचन किया जाना चाहिए—या इस दृष्टि के औचित्य पर प्रश्न-चिह्न लगाया जाना चाहिए ?

कहां तो लोग कहते नहीं थकते कि रचना मूलतः अखण्ड होती है, शास्त्र उसकी तोड़-फोड़, वर्गीकरण क्यों करता है ? पर क्या अब यह कहना पड़ेगा कि रचना-मानस खंडित और विभाजित होता है ? अवधारणा या अवस्थिति के दो विरोधी मूल्य या सीमांतों की प्रस्तुति के लिए क्या रचनाकार को दो विधाओं का चुनाव करना होता है ? अथवा विधा की प्रकृति या ढांचा, क्या वास्तव में लेखक की ऐसी अमोघ बाध्यता होती है कि स्वयं उसकी प्रकृति और अंतर्मूल्य उसके आगे हार मान बैठें ? 'अरण्या' की भूमिका में नरेश जी लिखते हैं : "काव्य के साथ सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि उसमें गद्य की भांति देश-काल नहीं होता।...गद्य में शब्द, अर्थ, पात्र या घटनाएं किसी का विपर्यय नहीं होता।"—कैसे नहीं होता ? बच्चों तक के लिए लिखी जाने वाली पशु-पक्षी की कहानियों में भी इन सबका विपर्यय, रूपांतरण, प्रतीकीकरण वगैरह होता है। तब एक उच्चमानसी रचनाकार की, गंभीर पाठकों के लिए लिखी कथा कृति में यह सब क्यों असंभव होना चाहिए ?

नरेश मेहता के आत्म-कथन (उक्त कविता) और तत्त्व-कथन (उक्त वक्तव्य) में इस हद तक तो सचाई है कि गद्य की प्रकृति मूलतः यथार्थपरक होती है, और उनके जैसे काव्य (क्योंकि अनेक यथार्थ-घोषी, सपाट रचनाओं के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती) में यथार्थ या अनुभव, भाषा या शब्द अपना बाह्य विस्तार खोकर अधिक महीन, सघन और पारदर्शी हो जाता है। परंतु एक जगह जो प्रशस्त, जमा हुआ और वृत्तपरक होता है; वही दूसरी जगह संक्षिप्त, स्रवित और पारदर्शी होता है—क्योंकि सर्जक चेतना मूलतः अखंड होती है। मनुष्य के शरीर में, हाथी के शरीर में या चींटी के शरीर में पंच तत्त्व नहीं बदलते, उनका घनत्व, परिमाण और संरचना ही बदलती है। एक सर्जक के गद्य और पद्य में उसका एक ही मानस सक्रिय रहता है, केवल विधा की प्रकृति—अधिक से अधिक—उसके रचना-मानस को किंचित् प्राकार या सूक्ष्म ही बना सकती है, दो भागों में नहीं बांटती कि आधा यहां और आधा वहां व्यक्त हो, क्योंकि इस अधूरे से तो उसकी सृष्टि ही अधूरी और विकलांग हो जाएगी।

वैसे यह कहना भी निरापद नहीं है कि कथा-कृति में दिखाई पड़ने वाला स्थूल देश-काल वास्तव में स्थूल ही होता है, वहां भी वह अंतर्हित हो सकता है अन्यथा वे देशकालजयी कैसे होतीं ? उच्चकोटि की कविता और उच्चकोटि की कथाकृति अपनी आंतरिक गुणवत्ता और सांकेतिकता की दृष्टि से समान प्रकृति की होती हैं। गद्य के चरित्र, घटनाएं आदि इतिहास या समाचार पत्र जैसे नहीं होते, वहां वे प्रतीक होते हैं। प्रेमचंद का 'होरी' या नरेश मेहता की 'दुर्गा' क्या सिर्फ 'होरी' या 'दुर्गा' हैं ? ये वास्तव में समाज के वर्ग-चरित्र, प्रवृत्ति या जीवन-व्यवस्था के प्रतिरूप हैं और कहीं-कहीं समाज पर व्यंग्य या उसकी आंख में डाली गई उंगली हैं। श्रेष्ठ कृति में देश-काल की उपस्थिति; देश-काल के विलोपन या उसे विस्तृत पटल पर बिछा देने के लिए होती है; ठीक वैसे ही जैसे अमूर्त की व्यंजना के लिए भी कविता में सम्मूर्तन या मूर्त विधान होता है। सन्नाटा मूर्त करके, भवानी प्रसाद मिश्र सन्नाटे की व्याप्ति और अमूर्तता की व्यंजना कितनी सटीक और सार्थक करते हैं ?

कोई भी श्रेष्ठ रचना (चाहे कथा-रूप में हो या काव्य में) संवेदन के चरम उत्प्रेरण का परिणाम होती है। लेकिन कविता और कथा में भेद यह है कि कविता को प्रारंभ से ही सूक्ष्म,

प्रश्नों की अरण्यानी

□ प्रभाकर श्रोत्रिय

नरेश मेहता अपनी परवर्ती कविताओं में निरंतर ऊर्ध्वचेतस होते गए हैं। 'अरण्या' उनकी इस यात्रा का 'ब्रह्मकमल' है। मुझे और शायद अनेक पाठकों को भी यह देखकर विस्मित होना पड़ा है कि जो कवि अपनी कथा-कृतियों में यथार्थ के इतने पास है (सम्पृक्ति की हद तक पास), वही कविता में वानस्पतिक, वैष्णवी, औपनिषदिक और पैगम्बरी कैसे हो जाता है? क्या एक ही रचनाकार की कविता और गद्य-कृति में इस तरह का विभाजन संभव है? क्या गद्य और कविता की सर्जना में ही ऐसा कोई मौलिक या तात्त्विक भेद होता है? क्या यह बैलगाड़ी में खिंचने और 'पुष्पक विमान' में उड़ने जैसी भिन्नता होती है? नरेश मेहता 'अरण्या' की एक कविता में कहते हैं :

> **यदि तुम मनुष्य को/केवल धरती पर ही देखना चाहते हो/तो मेरी कथा-कृतियां पढ़ो/जहां वह घटनाओं के सलीब पर/देश-काल में आबद्ध घटित हो रहा है/और इतिहास बनने की त्रासदी भोग रहा है।**
>
> **......**
>
> **परन्तु यदि मनुष्य में ही/इस देश-काल के पाश से मुक्त हो जाने की/केवल क्षमता ही नहीं है/बल्कि वह उस पुकार का श्रोता भी है/जो आकाशों के आकाश/परम व्योम से आती है/और उसे पैगम्बरत्व प्रदान करती है/अक्षर बनाती है।**

कविता अंत में कहती है :

> **इसलिए व्यक्ति का/नहीं—/मनुष्य मात्र का चैत्य-पुरुष बनना ही मेरा काव्य है।**

पिछले दिनों, विशेषतः कवियों द्वारा, लगातार कहा जाता रहा कि प्रत्येक कवि, यहां तक कि प्रत्येक कविता के मूल्यांकन का मानदंड अलग होता है। संभवतः वह काव्यशास्त्र की पारंपरिक जड़ता का खंडन हो; संभवतः वह इधर के काव्य-मानस और काव्य-सृष्टि की त्वरित गतिशीलता का प्रतिपादन हो; जो हो, इसमें सच का अंश अवश्य है, लेकिन सनक का भी कम योगदान नहीं है। परन्तु यह बहस मुझे यहां नहीं उठानी है; सोचना केवल यह है कि नरेश मेहता ने अपने गद्य और काव्य के बीच जो अंतराल—बल्कि द्वैत खड़ा किया है, क्या उसके

विशेष संदर्भ में उनके कथा-मानस और कवि-मानस के द्वैत का स्वतंत्र विवेचन किया जाना चाहिए—या इस दृष्टि के औचित्य पर प्रश्न-चिह्न लगाया जाना चाहिए ?

कहां तो लोग कहते नहीं थकते कि रचना मूलतः अखण्ड होती है, शास्त्र उसकी तोड़-फोड़, वर्गीकरण क्यों करता है ? पर क्या अब यह कहना पड़ेगा कि रचना-मानस खंडित और विभाजित होता है ? अवधारणा या अवस्थिति के दो विरोधी मूल्य या सीमांतों की प्रस्तुति के लिए क्या रचनाकार को दो विधाओं का चुनाव करना होता है ? अथवा विधा की प्रकृति या ढांचा, क्या वास्तव में लेखक की ऐसी अमोघ बाध्यता होती है कि स्वयं उसकी प्रकृति और अंतर्मूल्य उसके आगे हार मान बैठें ? 'अरण्या' की भूमिका में नरेश जी लिखते हैं : "काव्य के साथ सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि उसमें गद्य की भांति देश-काल नहीं होता।...गद्य में शब्द, अर्थ, पात्र या घटनाएं किसी का विपर्यय नहीं होता।"—कैसे नहीं होता ? बच्चों तक के लिए लिखी जाने वाली पशु-पक्षी की कहानियों में भी इन सबका विपर्यय, रूपांतरण, प्रतीकीकरण वगैरह होता है। तब एक उच्चमानसी रचनाकार की, गंभीर पाठकों के लिए लिखी कथा कृति में यह सब क्यों असंभव होना चाहिए ?

नरेश मेहता के आत्म-कथन (उक्त कविता) और तत्त्व-कथन (उक्त वक्तव्य) में इस हद तक तो सचाई है कि गद्य की प्रकृति मूलतः यथार्थपरक होती है, और उनके जैसे काव्य (क्योंकि अनेक यथार्थ-घोषी, सपाट रचनाओं के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती) में यथार्थ या अनुभव, भाषा या शब्द अपना बाह्य विस्तार खोकर अधिक महीन, सघन और पारदर्शी हो जाता है। परंतु एक जगह जो प्रशस्त, जमा हुआ और वृत्तपरक होता है; वही दूसरी जगह संक्षिप्त, स्रवित और पारदर्शी होता है—क्योंकि सर्जक चेतना मूलतः अखंड होती है। मनुष्य के शरीर में, हाथी के शरीर में या चींटी के शरीर में पंच तत्त्व नहीं बदलते, उनका घनत्व, परिमाण और संरचना ही बदलती है। एक सर्जक के गद्य और पद्य में उसका एक ही मानस सक्रिय रहता है, केवल विधा की प्रकृति—अधिक से अधिक—उसके रचना-मानस को किंचित् प्राकार या सूक्ष्म ही बना सकती है, दो भागों में नहीं बांटती कि आधा यहां और आधा वहां व्यक्त हो, क्योंकि इस अधूरे से तो उसकी सृष्टि ही अधूरी और विकलांग हो जाएगी।

वैसे यह कहना भी निरापद नहीं है कि कथा-कृति में दिखाई पड़ने वाला स्थूल देश-काल वास्तव में स्थूल ही होता है, वहां भी वह अंतर्हित हो सकता है अन्यथा वे देशकालजयी कैसे होतीं ? उच्चकोटि की कविता और उच्चकोटि की कथाकृति अपनी आंतरिक गुणवत्ता और सांकेतिकता की दृष्टि से समान प्रकृति की होती हैं। गद्य के चरित्र, घटनाएं आदि इतिहास या समाचार पत्र जैसे नहीं होते, वहां वे प्रतीक होते हैं। प्रेमचंद का 'होरी' या नरेश मेहता की 'दुर्गा' क्या सिर्फ 'होरी' या 'दुर्गा' हैं ? ये वास्तव में समाज के वर्ग-चरित्र, प्रवृत्ति या जीवन-व्यवस्था के प्रतिरूप हैं और कहीं-कहीं समाज पर व्यंग्य या उसकी आंख में डाली गई उंगली हैं। श्रेष्ठ कृति में देश-काल की उपस्थिति; देश-काल के विलोपन या उसे विस्तृत पटल पर बिछा देने के लिए होती है; ठीक वैसे ही जैसे अमूर्त की व्यंजना के लिए भी कविता में सम्मूर्तन या मूर्त विधान होता है। सन्नाटा मूर्त करके, भवानी प्रसाद मिश्र सन्नाटे की व्याप्ति और अमूर्तता की व्यंजना कितनी सटीक और सार्थक करते हैं ?

कोई भी श्रेष्ठ रचना (चाहे कथा-रूप में हो या काव्य में) संवेदन के चरम उत्प्रेरण का परिणाम होती है। लेकिन कविता और कथा में भेद यह है कि कविता को प्रारंभ से ही सूक्ष्म,

संकेन्द्रित और पारदर्शी माध्यम मिल जाते हैं, जब कि कथा-कृति को ताने-बाने बुनने का प्राथमिक काम करना पड़ता है। उसकी गति विलंबित होती है, क्योंकि चरित्र, घटना परिवेश, वस्तु आदि का संयोजन करते हुए रचना को लक्षित बिंदु तक पहुंचाना एक दूरगामी संक्रिया है। इसलिए उसका संवेदन तत्त्व एकमुश्त तुरंत उपलब्ध नहीं होता, बल्कि छितरा या फैला हुआ होता है। परन्तु यह प्रक्रियागत भेद है, तत्वगत नहीं।

जब हम कहते हैं कि कोई भी अनुभव या वस्तु अपने साथ रूप लाती है या वह रूप सहित अवतरित होती है, तो वास्तव में हम कहना यह चाहते हैं कि यथार्थ या तत्त्व, वस्तु या भाव जिस भंगिमा में लेखक को पकड़ता है, वह अपने सही पल्लवन या रूपायन की पद्धति अपने साथ लाता है। अथवा अनुभव-कोण अपनी सम्यक सम्प्रेषिता के लिए ढांचा स्वयं तलाश करता है। स्वयं कोई वस्तु किसी विधा में रची जाने को आरक्षित नहीं होती। उदाहरण के लिए पहले हर कुछ कविता में ही कहा जाता था, जब गद्य का प्रचलन हुआ तो वही सब गद्य में भी कहा जाने लगा। जब भाव-भंगिमा के लिए माध्यम सीमित थे, तब भी रचनाकार अपनी विधा के भीतर ही उनके अनुरूप अन्य विधा-गुणों को विकसित कर लेता था। एक ही रामकथा को तुलसी ने काव्य-विधा की अनेक शैलियों में रचना क्यों जरूरी समझा? उसके 'वस्तु-गुण' के लिए या 'वस्तु-भंगिमा' के लिए? आज भी जिस लेखक से काव्य-शिल्प नहीं सधता और अगर वस्तु-भंगिमा काव्य-शिल्प की मांग करती है तो वह कथा में ही काव्य-गुण विकसित कर लेता है। संक्षेप में वस्तु अपने पूरे बांकपन और भंगिमा को चरितार्थ करने के लिए अनुरूप शिल्प की मांग करती है। जो लेखक विभिन्नविधाओं में रचना करने में कुशल होता है, उसके पास विकल्प होते हैं और जिसके पास नहीं होते, वह अपनी विधा में ही भिन्नविधाओं के प्रयोग करता है। इसलिए कोई विधा अपने आप में अनुदात्त होती है न उदात्त।

इस परिप्रेक्ष्य में यदि नरेश मेहता के उक्त वक्तव्य और कविता पर विचार करें तो क्या हमें यहां से प्रारंभ नहीं करना होगा कि उनकी अवधारणा या चिंता, सर्जक के रूप में अपने आपको देखने या देख सकने की भ्रांति से उपजी दलील है? अथवा क्या यह माना जाए कि अवचेतन ने उनकी कविता पर लगाए गए आक्षेपों का एक तार्किक उत्तर या समाधान इस रूप में तैयार किया है? मेरे विचार से दूसरी बात अधिक सही है। क्योंकि इस धुंधलके में ही यह देख सकना असंभव हुआ है कि ऐसे तर्कों या समाधानों से स्वयं उनके कृतित्त्व के वामांग (गद्य) की हेठी हुई है, अकारण तिरस्कार हुआ है और उसका विवेचन सीमित हुआ है। क्योंकि कविता को ऊंची, पवित्र और मोक्षदायी भूमिका पर रखते हुए कथा-कृतियों को जबरन निम्न सापेक्षता में टिकाया गया है—उससे यही तो होना था, और हुआ भी। हमारे सामने समस्या यह पैदा हो गई है कि जब कोई सर्जनात्मक विधा मनुष्य को 'इतिहास की त्रासदी' में धकेले और कोई 'चैत्य-पुरुष' बनाए तो हम साहित्य-मात्र को कैसे परिभाषित करें? क्या गद्य और पद्य को अलग-अलग परिभाषित करें और उनका स्तरीकरण करें? किसी पर आई० एस० आई० मार्का लगाएं और किसी को स्मगलरों के हवाले कर दें?

यह चर्चा 'अरण्या' पर विचार करते हुए अपरिहार्य हो उठी है, क्योंकि इसमें संकलित अधिकांश कविताएं, कविताओं पर लिखी गई हैं। भूमिका में भी प्रायः काव्य की महत्ता पर ही चर्चा केन्द्रित है। कविताएं भी काव्य की उदात्तता, देशकालोत्तरता, यांत्रिकता और ऋचात्व का ही उद्घोष करती हैं। (उद्धृत कविता से स्पष्ट है कि नरेश जी का काव्य से आशय

'कविता' ही है।) इतना ही नहीं तुलनात्मक रूप में भी समस्त सर्जना में कवित्व की उच्चता प्रतिपादित की गई है। यहीं प्रसंगवश मैं जानना चाहूंगा कि ठीक अरण्या की पीठ पर लिखी काव्य कृति—'पिछले दिनों नंगे पैरों क्या अरण्या के प्रतिपादन और उसकी तुलना को प्रमाणित करती है? क्या वह इतिहास की भयावह त्रासदी का शोकगीत नहीं है?—ऐसा शोकगीत, जिसका एकमात्र उपचार उसकी छाया से भी परे जाना है :

> **"मैंने कहा था—/यह मैंने पहले ही कहा था, कि/सूर्यास्त के बाद/बाहर का अंधेरा भी उठाये/इन मातमी कब्रिस्तानों में रुकना समझदारी नहीं है।"**
>
> (पृ० 62)

यह भी पूछूंगा कि 'समय देवता' को अरण्या की काव्य-कसौटी पर कैसे परखा जाएगा? और क्या 'उत्तर कथा' का दूसरा भाग, 'पिछले दिनों नंगे पैरों'...की तुलना में इतिहास की यंत्रणा से मुक्त होने की बड़ी कोशिश नहीं है?

तात्पर्य यह है कि विधाएं रचनाकार की चेतना को खंडित नहीं करतीं। अगर वह खंडित होती है या विकसित होती है या परिवर्तित होती है तो उसके कारण उसके सोच और अवधारणा में ही निहित होते हैं। अब, जहां तक नरेश मेहता के काव्य और गद्य में अंतराल का प्रश्न है वह तो उनके विभिन्न काव्यों में भी देखा जा सकता है; परंतु रेखांकित, कथा और काव्य में ही प्राय: किया जा सकता है। इसका कारण वह सामग्री या 'पदार्थता' है जो गद्य और काव्य में भिन्न परिमाण में होती है। कथा रचते हुए किसी भी रचनाकार को प्रत्यक्ष जीवन के चरित्रों, घटनाओं, समस्याओं के संचयन से या उनके भीतर से गुजरना होता है। अत: उसकी मूलचेतना पर यथार्थ और विवेक का बहुत दबाव होता है; यानी चेतना वहां अंतर्वर्ती हो जाती है। और उसकी सर्जना-गति जीवन (जो जीवन वह ग्रहण करता है) की व्यावहारिकता, विवेक और संवेदन-मूल्यों के साथ चलती है, और यदि उसकी कोई भिन्न स्वायत्त आत्मा या चेतना है तो वह उसके भीतर दबी हुई चलती है, इसलिए सामाजिक कथा-रचना में यथार्थ का दबाव बना रहता है। संभवत: इसीलिए उसके भीतर चेतना का तत्त्व तलाश करना अधिक जटिल है। इसके विपरीत उसी रचनाकार में यदि सूक्ष्म अंतर्क्रिया या उदात्त और मांत्रिक अनुभूति, सौंदर्य और शिवत्व की अमूर्त अवधारणा अंतरचेतना के केन्द्र में हो तो वे कविता के सूक्ष्म, व्यंजक और त्वरित उपादान पाते ही चेतना-रूप में व्यक्त हो उठती हैं और पदार्थता अंतर्हित हो जाती है। यथार्थ और स्थूल उपादानों का बोझ हटते ही उसकी चेतना हल्की होकर ऊपर उड़ने लगती है। अत: नरेश मेहता कविता में निरंतर उदात्त और औपनिषदिक दिव्यता से भरकर परमव्योम में उड़ने लगे—बल्कि यह कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक सही है कि कविता में वे लगातार अपनी चेतना को, और उसे यथार्थ की व्यावहारिकता में बांधने वाले उपकरणों को छोड़ने की कोशिश करते रहे और कविता के सर्जनात्मक उपादानों से ही सर्जना करने लगे, जीवन के उपादानों से नहीं। उपन्यासों में उनकी जीवनानुभूति अपनी समग्रता के साथ काव्यानुभूति को नाथे रही, जब कि परवर्ती कविता में केवल काव्यानुभूति ही अंतिम रूप से सर्जना की निर्धारक रही, उसमें वे जिस जीवन की या मनुष्य मात्र की बात करते हैं, वह भी उनकी कल्पनामयी काव्यानुभूति की ही उपज है। जिस जमीन से उनके उपन्यास उठते हैं, उसी जमीन से अगर कविता उठती तो उसमें निहित चेतना भी उसी समानांतर क्रम में जारी रहती, जबकि यहां क्रम विपर्यय हो गया। उनकी कविता 'काव्य-कपिला' अज्ञात रूप से इस रचना-प्रक्रिया का संकेत दे देती है,

जो भूमि से नहीं आकाश से स्रवित है :

> 'मेरी यह श्यामा कविता/कैसी नंदिनी गौ की भांति/आकाश से पूरा दिन चरकर/पुष्ट थनों वाली हो जाती है/और तब गलघंटी बजाती/मेरे पीछे-पीछे हुमसती/अपने थान और बछड़े की तरह/अकुलाई चल रही होती है।
> कविता इसी तरह रोज/आकाश से धरती पर उतरती है/और मुझे सहज तथा सार्थक बनाती है।"

आकाश को छककर जमीन के लिए दुहा गया दूध, ऐसी काल्पनिक उदात्तता की सृष्टि करता है कि यथार्थ भी रंगीन और दिव्य हो जाता है। 'नहीं है वह सर्वहारा' कविता का, किसान के बारे में वक्तव्य है :

> किसान के पास पूरी प्रकृति है/वह सर्वहारा नहीं है/ हां उपेक्षित हो सकता है/पर ऐसी अनात्मता/केवल ऋषि में ही संभव है।

उपेक्षा कोई करे और 'उपेक्षित' व्यक्ति ऋषि हो जाए ! 'कवि के' किसान के पास पूरी प्रकृति है जैसे हमारे पास पूरी दुनिया है, ब्रह्माण्ड है। यह एक काल्पनिक उदात्तता है जिस पर यथार्थ का कोई अनुशासन नहीं है। क्या यह बात, इसी तरह नरेशजी स्वयं 'यह पथ बंधु था' या 'उत्तर कथा' में कह सकते थे ? कहते तो किसान खुद आकर उनका हाथ पकड़ लेता, जिसका जन्म उनकी जीवनानुभूति में से हुआ है। काव्यानुभूति में से नहीं। असल में चेतना की इस विपरीत यात्रा या क्रम-विपर्यय से ही उनकी दो विधाओं में लिखी गई कृतियों में यह द्वैत दिखाई देता है। यदि नरेश जी के उपन्यासों का अध्ययन उनकी ऊर्ध्व चेतना की दृष्टि से किया जाए तो उनमें वे सारे तत्व यथार्थ के साथ मिले हुए दिखाई दे जाएंगे जो कविता में बहुत मुखर और निरपेक्ष हैं। संभवत: इसी कारण उन्हें स्वयं भी अपनी इन विधाओं के संदर्भ में भ्रम हुआ है।

केवल काव्यानुभूति से जन्मी कविता ने ऊर्ध्व चेतना के संसार में पहुंचते ही वह काम किया जो नरेश जी पर सतत आक्षेप लगाने वाले भी न कर सके। उसने नरेश मेहता की सहज बिम्बधर्मिता और कविता को सम्प्रेषित करने वाला मूर्त विधान लगातार उनसे छीनने की कोशिश की। मंत्र, ऋषि, परम व्योम, आकाशों के आकाश, ध्वनियों की ध्वनि, समय का भी समय, अक्षर, पेड़त्व, शाश्वती आदि की काव्य-सत्ता पर तनिक विचार करें तो पाएंगे कि जीवनानुभूति से ऊपर उठी हुई काव्यानुभूति ने इस क़दर आत्म-भोग शुरू कर दिया है, मानो वह ब्रह्मानुभूति हो। उसका आस्वादन इस क़दर स्वकेन्द्रित हो गया कि अपने लिए इन शब्दों के अर्थ और आस्वाद को ही कवि द्वारा सम्प्रेषण का पर्याय मान लिया गया। कविता में शब्दों का मूर्त विधान होता है, उसके बिम्ब इन्द्रियों से आस्वाद्य होते हैं, उसके प्रतीक बिम्बानुभूति को ही प्रतीकीकृत करते हैं, उसके अनुभव-अंकुर जीवन-बीज से निकले होते हैं। उक्त शब्द अथवा ऐसे कितने ही शब्द और अनुभव, जिनका अरण्या में प्रयोग हुआ है काव्यत्व की या कविता के सम्प्रेषण की वह शर्त पूरी नहीं करते जिसके कारण कविता का रस, ब्रह्म-रस से भिन्न और स्वाधीन होता है (भले ही वह उसके समान हो।) कविता के लिए यह भूलना घातक है कि कवि का मानस लोक की ओर झुका होता है, जब कि पैगम्बर का परमात्मा की ओर, (वह चाहे जितना बड़ा हो, कवि वैसा बनकर योग भ्रष्ट ही होता है।) जब नरेश जी कविता का महत्व प्रतिपादित करते हैं, तो कहते हैं—'काव्य, पुरुष की विराटतम महासत्ता और

प्रकृति की आणविक नगण्य सत्ता में चेतना, शक्ति और स्थिति की समरसता का छंदगान करता है।' तो, यह कविता की विशेषता से अधिक 'ऋचा' की विशेषता लगती है। यद्यपि नरेश जी की इन कविताओं में भी एक विशिष्ट काव्यात्मकता है, निरभ्र आकाश जैसी निर्मलता भी, लेकिन अनुभूति के स्तर पर वह कविता के आस्वादन से अधिक मंत्र के अनुभव जैसी लगती है, जो सामान्य मनुष्य के उदात्तीकृत बोध से ज़रा ज्यादा ही ऊपर उठी हुई है। यदि हम साहित्य पर हर तरह के अतिक्रमण का, मसलन राजनीतिक अतिक्रमण का विरोध करते हैं तो दर्शन के अतिक्रमण का विरोध भी करते हैं; क्यों कि वह उसकी मूल शक्ति और गुणों को आच्छादित कर छू लेता है और उसे अपनी चाल से चलाता है। नरेश जी कहते हैं कि 'मंत्रकाव्य की पराकाष्ठा है। वे स्वयं काव्य नहीं हैं, पर काव्य के कारण हैं।' अर्थात् काव्य पराकाष्ठा पर पहुंच कर मंत्र बन जाता है। मैं पूछना चाहूंगा कि क्या नरेश जी का काव्य पराकाष्ठा पर पहुंच गया है? वास्तव में मंत्र की भाषा में साहित्य की चर्चा से (अगर शुक्ल जी के शब्दों में कहूं तो) बड़ा गड़बड़ झाला पैदा हो जाता है। वास्तविकता यह है कि अगर मंत्र को कविता बनना है तो सबसे पहले उसे अपना मंत्रत्व ही खोना पड़ेगा। 'अरण्या' की भूमिका कविता के दार्शनिकीकरण का प्रतिपादन लगती है। उसी तरह कविता भी दार्शनिक प्रतीतियां लगती हैं। एक कविता में कवि को अपांक्तेय दर्शाने के लिए उसका सादृश्य 'विराट्' से स्थापित किया गया है। कवि लीक से हटकर चलता है, वह प्रभावों का गुलाम नहीं है, यह बात लौकिक मनुष्य को लौकिकता के सादृश्य से बताई जा सकती थी, स्वयं नरेश जी ने पहले बताई भी है।

इन कविताओं में नरेश जी आत्मपरकता की पराकाष्ठा पर पहुंच गए हैं, एक तरह से वस्तुतत्व का इतना लोप कवि की आत्मपरकता को ही अतिरंजित नहीं बनाता, प्रकृति और जीवन की विराट सत्ता के प्रति उसके विश्वास को भी विश्वसनीय बनाता है:

'पहले जहां फूल होता था/वहां वृष्टि जाती थी/पर अब जहां दृष्टि जाती है/ वहीं फूल खिलता है।'

(संपदा भाव)

अपने को निरंतर दे देने और नामहीन होने की अनुभूति पहले भी नरेश जी के काव्य में व्यक्त हुई है। यहां भी वे कहते हैं :

'एकांत वनों के बीच से जाती/इस अनाम पगडंडी पर/ केवल चलते चलो/··· यहां अपना नाम भी/इस जंगल के बाहर ही किसी वृक्ष पर टांग देना होता है।'

ये सारे उद्धरण ऊपर की गई टिप्पणी को ही प्रमाणित करते हैं।

नरेश जी का रचना-पटल बहुत बड़ा है, पर इतना बड़ा हो गया है कि अमूर्त हो उठा है; जिस पर जीवन का कोई चित्र बनाना असंभव है जबकि कविता-पटल उस पर बने चित्र के कारण ही अपनी विराटता और दिव्यता (भी) के लिए सराहनीय होता है। नरेश जी कहते हैं, कि 'काव्य की एक मात्र निर्दोष सत्ता है।' परन्तु जब निराकार को साकार होना हुआ तो उसे भी 'सगुण' होना पड़ा, जिसका अर्थ सतोगुण ही नहीं, तमोगुण और रजोगुण भी है। मैं नहीं कह सकता कि काव्य के लिए ऐसी बातें कह कर, नरेश जी क्या सिद्ध करना चाह रहे हैं।

यदि ब्रह्म के स्तर पर काव्य और कवि का उद्घोष करने वाली भूमिका, कविता के सम्बन्ध में अतिरंजित कविताओं, अमूर्त, अतींद्रिय चेतना और निरी काव्यानुभूति से उत्पन्न

चेतना को छोड़ दें, तो यहां भी नरेश जी अपनी कतिपय कविताओं में निसर्ग सिद्ध कवि हैं। वे निश्चय ही हिन्दी के एक विरल और अपांक्तेय कवि हैं जिनके काव्य में हिन्दी सर्जना मानवीय अनुभूति, प्रकृति तथा लोक की सन्निधि के बहुत मार्मिक, सम्पृक्त और विरल रूपायन पा चुकी है। यहां भी उन्हें इस सन्निधि ने कुछ उबारा है। तभी इतना कुछ कह देने के बाद वे स्वयं बहुत ही आग्रह के साथ अनुभव करते हैं :

> **'अपने समय/और कोटि-कोटि लोगों के बीच/एक कविता/एक घटना/एक मनुष्य-सा घटित होना पड़ेगा।'**

(अरण्यानी से वापसी)

इस तरह वे अपने ही प्रत्ययों और अवधारणाओं को काटते हुए अंततः वही कहते और चाहते हैं जो इस लेख में यहां से वहां तक कहा गया है। निरंतर विकासशील और चिंतनशील सर्जक की यही विशेषता होती है कि वह लीक पर चलने वाले कुंठित और जड़ लोगों की तरह हवाओं के लिए बन्द मकान की तरह नहीं होता। नरेश जी में यह विचलन अगले विकास का सूचक है और दिखाता है कि उनकी यात्रा अभी रुकी नहीं है, जारी है। 'अरण्या' में ही वे अपनी 'वैष्ण-वता' से 'पृथ्वी पर वनस्पति' बनकर उगने का आग्रह करते हैं। एक कविता में वे विज्ञान द्वारा प्रकृति और जीवन में विकरालता जगाने के खिलाफ उसे आगाह करते हैं। उनका यह संकल्प एक सर्जक संकल्प के रूप में महत्व रखता है कि—

> **मैं शब्द को अस्त्र बनाकर···'पाशुपत' रुद्र बनकर/इस तुम्हारे/और शिखंडी इतिहास के विरुद्ध प्रयोग करूंगा।'**

कवि अनुभव कर रहा है कि इस अंधेरे, चिमगादड़ समय में—

> **सृष्टि मात्र को/मनुष्य मात्र को/इतिहास और राजनीति नहीं/एक कविता चाहिए।' क्योंकि 'काव्य से बड़ी कोई आश्वस्ति नहीं होती।'**

हमें आशा करनी चाहिए और अपेक्षा भी रखनी चाहिए कि नरेश मेहता और अन्य लोक चिंतक कवियों का काव्य अंधेरे के खिलाफ युद्धास्त्र की तरह इस्तेमाल होगा, और राजनीति, समय और इतिहास से उत्पन्न विपन्नता को अपनी संवेदित चेतना से दिशा और दृष्टि देगा। पर इसके लिए नरेश मेहता के कवि को फिर नया जन्म लेना होगा और उनकी सम्पूर्ण उदात्त, शास्त्रीय और दार्शनिक चेतना को यथार्थ जीवन के रूपायन के लिए सृष्टि—गर्भ में उतरना होगा, जिसका संकल्प उन्होंने 'अरण्या' में लिया है।

[101, तुलसी नगर भोपाल, म० प्र०]

मौत की घाटी में

□ सच्चिदानन्द वात्स्यायन

क्षुद्र मानव को कभी-कभी देवताओं का समकक्षी हो सकने का सौभाग्य प्राप्त है, लेकिन वह सौभाग्य अधिक देर तक बना नहीं रह सकता। सृजन के क्षण चिरस्थायी नहीं होते, वे आकर उड़ जाते हैं। सम्भव है ईश्वर भी अपने रचना क्षेत्र में ऐसे उत्कर्ष के अवसर पाता हो, उन्हीं में 'सृष्टि' करता हो और बाकी में केवल मात्र 'निर्माण'। तभी तो संसार में इतनी ऊंच-नीच और असमानता है—जो वस्तु 'सृजन' की गई है, 'इनस्पिरेशन' के क्षण में रची गयी है, प्रतिभा प्रसूत है, वही सुन्दर और शुभ है, बाकी तो केवल 'बनायी' हुई चीजें हैं, जगह भरने के लिए !

'देवताओं के अंचल' में बैठ कर भी एक दिन के देवत्व के बाद मैंने पाया कि लिखना आगे चलता नहीं है। मैंने कलम रख दी और शून्य दृष्टि से मकान की दीवार की ओर देखने लगा।

'सिक्स मेमोरेबल डेज एंड नाइट्स—छः स्मरणीय दिन और रातें...'

दीवार पर पिछले वर्ष के किसी यात्री दल का लिखा हुआ यह लेख बिना कोई गहरी छाप डाले मेरे मन के पट पर नाचने लगा। मेरा दिन भर बहुत अच्छा बीता था, लेकिन क्या दिन ही स्मरणीय था ? मैं लिखता, तो लिखता कि इस चिर-स्मरणीय सौंदर्य के बीच मैंने छः दिन बिताए क्योंकि दिन क्या हैं ? उनका अस्तित्व तो उनमें भोगी हुई चीजों या अनुभूतियों के कारण ही है...।

दिन भर लिखते-लिखते मन इतना थक गया था कि इस बेसिर-पैर के विचार को भी आगे नहीं बढ़ा सका। मैंने ओवरकोट पहना और ढलते सूर्य की ओर पीठ करके पहाड़ की चोटी की ओर सैर के लिए बढ़ने लगा।

दिन-भर बादल घिरे रहे थे, यद्यपि वर्षा नहीं हुई थी और बीच बीच में धूप झलक जाती थी। उस समय हल्के सफेद बादलों से घिरी हुई मनाली ऐसी सोहती थी मानो किसी आकाशवासी जौहरी ने धुनी हुई रुई में लपेट कर बढ़िया पन्ना रख दिया हो। लेकिन अब एक और भी विस्मयकारी दृश्य सामने आ रहा था—जिस ओर बादल जरा खुलते थे उसी ओर उनके अवगुण्ठन के बीच में से अछूती, 'अक्षत-यौवना' हिमचोटियां दीख जाती थीं। तब यह मालूम हुआ कि आकाशवासी जौहरी ने रुई से लपेट देना ही पर्याप्त नहीं समझा, पन्ने की रक्षा के लिए उसके सब ओर विराट हिमशृंग ला खड़े किए हैं—और जिस ओर वे नहीं हैं उस ओर व्यास नदी का प्रवाह है।

खैर, मैं मनाली गांव लांघ कर मनु-रिखि के मन्दिर के पास से होता हुआ ऊपर चढ़ता गया। चढ़ते-चढ़ते एकाएक मुझे लगा कि चारों तरफ सन्नाटा छाया हुआ है, कहीं कोई आदमी नहीं है, पक्षियों का स्वर नहीं है, प्रायः सर्वत्र सुन पड़ने वाला झरने का कल-स्वर भी नहीं है। मैंने देखा कि सांझ बहुत घिर आई है, और मैं गांव में तीन-एक मील ऊपर निकल आया हूं। मैं जल्दी-जल्दी लौट पड़ा।

कुल्लू के गांवों में दीया प्राय नहीं जलता। सन्ध्या होते-होते लोग डांगरों की देख-रेख से निपट कर, भोजन-वासन उठाकर घर के भीतर आग के आस-पास बैठ जाते हैं, और जब तक मन होता है, गप-शप करते हैं, फिर सो जाते हैं। प्रातःकाल का सूर्य गांव की स्त्रियों को गांव की बाउंड्री पर कपड़े धोते, या चीड़ के वनों में लकड़ी बीनते-चुराते, और पुरुषों को खेती पर काम करते या ढोर चुराते पाता है।

इसीलिए मैं जब गांव के पास लौटकर आया था तब गांव अंधेरे में पड़ा था। किसी घर के भीतर से कभी हंसी की उड़ती-सी ध्वनि आकर सन्नाटे को गहरा कर दे तो कर दे और किसी तरह की हलचल नहीं थी; न ऐसा कोई प्रकाश ही था कि हलचल देखी जा सके। हां, पत्थर पर भारी चांप से पड़ते हुए मेरे ही बूटों का स्वर अवश्य उस शांति को एक भद्दे ढंग से भंग कर रहा था।

मेरे गांव में प्रवेश करते ही एक-एक करके घरों के दरवाजे खुलने लगे और दो-दो तीन तीन आदमी प्रत्येक में से बाहर निकल कर खड़े हो गए। थोड़ी देर में मैंने पाया कि गांव के प्रायः तमाम पुरुष निवासी इस प्रकार अपने-अपने झोपड़े या घर की देहरी में खड़े हैं और स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देख रहे हैं। इस ढंग का कुतूहल वैसे भी किसी को नहीं सुहाता, फिर उस समय मुझे लगा कि में कुतूहल से अधिक तीखा भी कुछ है— रोष या द्वेष या घृणा···मैं सिर झुकाए तीव्र गति से बढ़ता चला, मुझे समझ नहीं आया कि बात क्या है···

एकाएक सारा गांव ही समवेत स्वर से एक सीत्कार ध्वनि कर उठा वैसी ध्वनि पाश्चात्य देशों में तीव्र घृणा को व्यक्त करने के लिए की जाती है, यह मैं जानता था, पर यहां भी क्या उसका वही उद्देश्य हो सकता है? आशंका से मेरा हृदय भर उठा—यदि यह घृणा है तो क्यों? छः सौ आदमियों की उस भेदक स्वर से भरी हुई घृणा की कल्पना से ही सिहर कर मैं धड़कते हुए हृदय से किसी न किसी तरह घर पहुंचा और भीतर घुस कर किवाड़ बन्द करके बैठ गया।

मैंने सुना कि गांव-भर के किवाड़ बन्द हो गए हैं। बत्ती नीची करके चारपाई पर लेट कर मैं सोचने लगा कि इस घटना का कारण क्या हो सकता है?

घृणा? लेकिन मैंने उन्हें घृणा के लिए कोई कारण तो नहीं दिया।

डर? मैं विशेष खतरनाक भी नहीं दीखता, और दिन-भर जिस निरुपद्रव ढंग से बैठ कर लिखता रहा हूं, उससे तो उन्हें बिलकुल आश्वस्त हो जाना चाहिए कि इस लेखक-जन्तु में हिंसा बिलकुल नहीं है।

तब संदेह?

मुझे कुछ हीं समय पहले की लाहौर की एक बात याद आई। लाहौर में जब शहीदगंज आंदोलन के सिलसिले में 'कर्फ्यू आर्डर' हुआ और सायंकाल सात बजे के बाद लोगों का घर से निकलना मना हो गया, तब मुसलमानों ने एक नयी प्रथा चलाई। नित्य सात बजे वे इस्लाम पर

आई हुई विपत्ति का निवारण करने के लिए अपने-अपने घरों की छत पर चढ़कर आकाश की ओर एक लम्बी पुकार भेजते थे'''मुहल्ले के मुहल्ले का एक साथ आहत की तरह कराह उठना एक अजीब चीज थी—अंधकार में वह दर्द भरा स्वर खाहमखाह मन में किसी अनिष्ट की भावना पैदा कर देता था—सचमुच ऐसा जान पड़ने लगता था किसी घनी छाया से वातावरण गहरा होगया है, रोमांच हो आता था'''

मुझे यह भी याद आया कि असभ्य आदिम जातियों में भी अनिष्ट निवारण के लिए—या भूत-प्रेतों का प्रकोप उठाने के लिए—सीत्कार ध्वनि या कराहने का-सा स्वर पैदा किया जाता था (अब भी होता है)। कुछ ही दिन पहले फ्रेजर की 'गोल्डन बॉउल' में मैंने आदिम जातियों की प्रथाओं का वर्णन पढ़ा था, वह अभी मेरे दिमाग में भरा हुआ था और मैं हर एक बात का कारण किसी आदिम विश्वास या प्रथा में खोजा करता था।

तो, संदेह। शायद मेरे दिन-भर चुपचाप लिखते रहने से और शाम को काला ओवरकोट पहन कर घूमने से उन्हें लगा हो कि मैं जादूगर हूं, या ऐसा ही कुछ'''लेकिन मनाली के लोग तो सभ्य हैं, वीर राजपूत हैं'''

ऐसी-ऐसी बातें सोचते-सोचते, विमर्श करते मैं सो गया।

रात में मेरे घर पर पत्थर बरसाए गए। पहले मैंने समझा कि ओले पड़ रहे हैं, लेकिन बाहर आकर देखा कि आकाश स्वच्छ हैऔर तभी एक और बौछार हुई।

मैं फिर लेट गया। एक हल्की-सी जिज्ञासा मन में उठी, क्या यह घर भुतहा है? भूत मैंने कभी देखे नहीं, देखने की उत्कंठा ही लिए रह गया हूं।

और कोई घटना नहीं हुई। मैं सो गया।

दूसरे दिन मैंने श्रीयुत बैनन से सारी बातें कहीं। वे मुस्करा दिए। फिर उन्होंने बताया कि पिछले साल जो लोग उस घर में आकर ठहरे थे उन्होंने गांव की स्त्रियों से कुछ छेड़-छाड़ की थी। मनाली के लोग बड़े अभिमानी हैं, ऐसी बात नहीं सह सकते। उन्होंने पत्थर वर्षा कर उन लोगों को भगा दिया था, पीछे थाने में रिपोर्ट भी हुई थी और थानेदार ने गांव वालों को धमकाया भी था जिससे वे अधिक नाराज हो गए। अब वे शायद उस घर में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर सन्देह करने लगे हैं'''

उन्होंने गांव के मुखिया को बुलाकर मेरा परिचय करा दिया, और मेरी ओर से आश्वासन भी दिया। उसके बाद मैं मुखिया के साथ जाकर गांव के कुछ प्रमुख व्यक्तियों से मिला। जब वे मेरे उस गांव के घर में रहने का, अकेले आने का और दूसरे यात्रियों की तरह दोपहर में ही न घूमने का कारण पूछ कर सन्तुष्ट हो गए, तब मैं सबको नमस्कार करके लौट आया। थोड़ी देर बाद जब गांव का एक लड़का छोटी-सी टोकरी में एक लौकी, कुछ करेले और थोड़ा सा शहद देने आया, तब मैंने जान लिया कि गांव वाले प्रसन्न हो गए हैं। यह मैत्री-भाव फिर बराबर बना रहा। लेकिन शाम का घूमना मैंने छोड़ दिया। कभी लिखने से बहुत ऊब कर जाता भी, तो गांव की ओर कदापि न जाता।

तीन-एक दिन की बात है। मैं घर के बरामदे में, बनावट के ढंग से तो उसे 'मचान' कहना ही अधिक उचित होगा—बैठा पत्र लिख रहा था। एक अजनबी पहाड़ी आदमी आकर मेरे पास

खड़ा हो गया। मैंने शक्ल से पहचाना कि मनाली का नहीं है—वहां के प्रायः सभी आदमियों को मैं पहचान गया था।

मैंने उसे बैठने को कुर्सी देते हुए बातचीत आरम्भ की। उसने कहा कि मुझे यहां सब्जी-तरकारी न मिलती हो तो वह अपने गांव से ला सकता है। उसके यहां कद्दू, करेले, बैंगन आदि होते हैं। 'अच्छी बात है, दे जाया करो', कहकर मैं अपने काम की ओर मुड़ा। तभी उसने मुझसे एक प्रश्न पूछा, जिसे मैं दुहरा नहीं सकूंगा, लेकिन जिसका अभिप्राय यह था कि अगर मैं कोई वैसी वासनाएं लेकर आया हूं तो उनकी पूर्ति का सामान वह पेश कर सकता है।

मैं स्तब्ध होकर ताकता रह गया। फिर एकाएक ग्लानि का तीव्र झोंका आया, फिर क्रोध—मन हुआ कि इस नीच आदमी को मचान से नीचे धकेल दूं। लेकिन एक बात ने मुझे रोक दिया और मुझे गम्भीर होकर सोचने को बाध्य किया। जो बात उस आदमी ने पूछी थी, वह उतने बेझिझक खुलेपन से कही गई मैंने कभी नहीं सुनी थी। न सभ्यों में, न असभ्यों में, न शीलवान लोगों में और न बदमाशों में। उस चर्चा के साथ हम लोगों के मन में इतना गहरा जुगुप्सा का भाव है कि हम लोग अधिक से अधिक बेशर्म होकर भी उसे भावनाहीन होकर नहीं कह सकते—यदि शर्मिन्दा होकर नहीं तो ललकार से ही कहते हैं। उस आदमी में इतना साधारण भाव क्यों हुआ? क्या इसके लिए यह बात भी इतनी साधारण है?

मैंने उसके प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए बात बदल दी। धीरे-धीरे उसने मनाली के लोगों की चर्चा आरम्भ की—कहा कि वे लोग अभिमानी, बदमाश, यात्रियों को कष्ट देने वाले हैं, और अगर मैं चाहूंगा तो वह आदमी उन्हें खबर लगने दिए बिना प्रबन्ध कर देगा। मैंने फिर टाल दिया, तब उसने बताया कि पिछले वर्ष तीन आदमी वहां आकर टिके थे, उन्होंने किसी को बुलाया था। इस पर गांव वाले बहुत नाराज हुए थे और उन्होंने घर पर पत्थर बरसाये थे। "बाबूजी, ये मनाली के राजपूत बड़े बदमाश हैं···"

मैंने किसी तरह उसे निकला, और लौटकर अपने स्थान पर बैठ गया। लिखना सम्भव नहीं हुआ, मैंने एक लम्बी सांस लेकर कलम रख दी।

मेरी दृष्टि उठकर फिर उस 'शिलालेख' की ओर गई—'छः स्मरणीय दिन और रातें···'

एकाएक इस 'स्मरणीय' का अर्थ एक कड़वी हंसी के रूप में मेरे भीतर से फूट निकला।

उस घर में काम करना असम्भव हो गया। अपने लिखने में मैं जो तटस्थ भाव चाहता था, वह वहां प्राप्य नहीं कर रहा था—मानो पिछले वर्ष के कुछ दिनों में वहां जमा हुआ वातावरण एक तीव्र गन्ध बनकर मुझमें भर रहा था—वहां बैठ कर एक अजीब अकुलाहट-सी मन में होती थी और भाग जाने को जी होता था···लारेंस ने कहीं कहा है कि 'मानव की बू मानव को असह्य हो गयी है'—इस कथन की सच्चाई का अनुभव वहां हर समय होता रहा था···

मैं वह मकान छोड़कर मनाली से उतर नयी बस्ती दाना में आ गया—बैनन साहब ने अपने बंगले का आधा हिस्सा मुझे दे दिया। यहां पर उनके सेवों के बाग में उनकी शिशु कन्या शकुन्तला की गम्भीर नीली आंखें और तीव्र हंसी देखकर मैं उस दर्द को भुलाने लगा जो मनाली वाले घर में मेरे भीतर जाग उठा था।

लेकिन एक घटना अभी और घटनी थी।

उन दिनों मेरी डाक काफ़ी थी—चिट्ठियां लिखने और पाने का मुझे व्यसन था। पढ़ कर चिट्ठियां फाड़ डालता था, लेकिन कचरा फेंकने के लिए कोई स्थान न होने के कारण मैं उसे ओवरकोट की जेब में भर लेता था और जब सैर के लिए जाता था तब नदी में डाल देता था। पहाड़ों के अनेक रमणीय स्थानों पर दर्शकों द्वारा बिखराया हुआ कचरा—फटे कागज़, फलों के छिलके आदि—देखकर मेरे मन में जो भीषण अभिशाप जाग उठता है—उसी की याद के कारण मुझे कभी साहस नहीं हुआ कि कागज़ फाड़कर जहां-तहां फेंक दूं कि टुकड़े हवा से उड़-उड़कर दृश्य को बिगाड़ा करें।

तो एक दिन सांझ को इसी प्रकार अपनी सफ़ाई यात्रा पर चल कर मैं दाना और मनाली के बीच वाले नदी के पुल पर खड़ा था। झुटपुटे में एक अलौकिक भीतरी चमक से जगमग नदी के तीव्र बहते हुए फेनिल जल को देखता हुआ मैं जेब से एक-एक मुट्ठी कागज़ निकाल कर छोड़ जाता था। हवा के हल्के झोंके से जब वे टुकड़े कांपते हुए धीरे-धीरे नीचे उतर जाते थे, और फिर पानी को छूते ही एकाएक तीव्र गति से प्रवाह के साथ आगे उछल पड़ते थे, तब मेरा हृदय भी उल्लास से उछल पड़ता था···इसी तरह कहीं इस विश्व के पीछे छिपी हुई भी कोई रहस्यमय अदृश्य नदी होगी; मानव जीवन जब फटे हुए कागज़ के पुर्जे की तरह निराधार होकर अपने को उस में उत्सर्ग करता होगा, तब उसके स्पर्श से एकाएक नयी चेतना पाकर आगे चल पड़ता होगा, अस्तित्व के धुंधलके में किसी सुदूर अगाध विस्तार में लीन होने के लिए··· कुछ ऐसा ही अस्पष्ट भाव नित्य मेरे मन में उस समय उभर आता था···पुल पर बिताए हुए उस अल्प समय के बाद मैं वैसा ही लौटता था जैसा कोई धर्मवान् व्यक्ति प्रार्थना करके लौटता होगा···

उस दिन देर कुछ अधिक हो गई थी, कागज़ के टुकड़े नदी को छूते हुए नहीं दीखते थे, पर नदी का प्रवाह साफ़ दीखता था। पहाड़ी जीवन के प्रति एक कोमल भाव मेरे मन में भर रहा था।

पुल पर बूटों की चाप से मैं चौंका। मैंने देखा, एक एंग्लो-इंडियन सैलानी, जिसे मैं दाना में दो-तीन बार देख चुका था, बढ़ा जा रहा था। मुझे देखकर वह ठिठका, फिर एकाएक अंग्रेजी में बोला, "यहां किसी की ताक में खड़े हो क्या?"

बात जितनी साफ़ थी, उसका व्यंग्य इशारा उस से भी साफ़ था। मैंने फटकार कर उत्तर दिया, "शट-अप!"

वह मुस्कराता हुआ ही आगे चला गया। मैं उस पक्षी की तरह जिस पर ऊंची उड़ान में एकाएक बिजली गिर पड़ी हो आहत मन लेकर लौट आया।

'देवताओं के अंचल' में रहते हुए भी मैंने देखा कि कहीं किसी तरफ घूमने को स्थान नहीं रह गया है। तब मैंने लिखना एकदम छोड़कर इस समस्या का सामना किया जो शिशिर ऋतु के कोहरे की तरह न जाने कहां से आकर सब ओर छा गयी थी। यह देवताओं का अंचल क्यों आज अपना विस्तार भूलकर अपने एक कोने में पड़ी हुई 'मौत की घाटी'[1] का नाम अपना रहा है।

1. 'रोहतांग' का अर्थ है मौत की घाटी, मनाली से उत्तर-पूर्व लाहुल के मार्ग में रोहतांग की जोत अथवा घाटी जाती है।

मैंने गांव-गांव घूमकर लोगों को देखना, उनके बारे में जानकारी प्राप्त करना आरम्भ किया। और मैंने देखा कि 'देवताओं का अंचल' सचमुच आज मौत की घाटी हुआ जा रहा है। मौत वहां के कोने-कोने में घुसी जा रही है।

मैंने यह भी देखा कि इसका उत्तरदायित्व देवताओं पर नहीं, मानवों पर है, और उन मानवों पर जो अपनी सभ्यता के मद में चूर रहते हैं। हम समतल भूमि के रहने वाले ही अपने पतन की सडांध वहां पहाड़ों में ले गये हैं। अपनी भद्दी छाप से ही हमने पहाड़ों का सौन्दर्य विकृत कर दिया है, यहां तक कि आज भारत के पहाड़ी इलाकों में शायद ही कोई ऐसा स्थल बचा है जो दूषित नहीं हो गया है, जिसे दर्पोद्धत, बेवकूफ़ सभ्य मानव ने यह कहकर कि "तुम सुन्दर हो ? तो लो, मैं अपने कलंक से तुम्हें भी काला कर सकता हूं !' भ्रष्ट नहीं कर दिया है। यदि पहाड़ों में कोई स्थल ऐसे बचे हैं जिनमें सभ्य मानव की यह काली करतूत डायन-सी मुंह बाए सामने नहीं आती, तो वे वही स्थल हैं जहां पुराने सौन्दर्य का कोई चिह्न हीं नहीं बचा, जिसे हमने अपने जैसा ही बना लिया है—सभ्य और सड़ा हुआ। हमारी करतूत हमें स्पष्ट वहां दीखती है जहां अभी स्वाभाविकता मरी नहीं है, जहां हम अपनी 'देन' का और प्राकृतिक अवस्था का विपर्यय एक स्थान पर देख सकते हैं—जिसका सर्वोत्तम उदाहरण कुल्लू का अंचल है। वह भी अब सभ्यता की सैरगाह बन गई है, अत: कुछ एक वर्षों में वहां भी देखने को कुछ नहीं रहेगा—सिवाय अपने बेवकूफ़ चेहरे के बेहूदा प्रतिबिम्ब के। अंग्रेजी के एक कवि ने कहा है, 'जब मैं झील के स्वच्छ पानी में झांक कर वहां के छोटे-छोटे भागते हुए जानवर और रंग-बिरंगी घास-फूस नहीं देखता, तब मैं एक मूर्ख के चेहरे का प्रतिबिम्ब देखता हूं····'

यह कहना कठिन है कि इस अवस्था की आलोचना करने का कुछ अच्छा परिणाम होगा। हो सकता है कि कुल्लू के सौन्दर्य की चर्चा सुन कर, और यह जान कर कि उसे बिगाड़ सकना सम्भव है, बहुत से 'सभ्य लोग' उस सम्भावना को मिटाने की बजाय उससे लाभ उठाने दौड़ें। तोल्स्तोय ने एक कहानी में बताया है कि एक साधु जब किसी शहर से लौट कर वहां होने वाले पतन का रोमांचकारी चित्र खींच कर अपने साथियों को साधना का महत्व बताने लगा, तब सारी साधुमंडली अपना-अपना डोरिया-डंडा संभाल कर शहर की ओर ही दौड़ पड़ी।

पहाड़ों पर हम सभ्य लोगों की कृपा से जो कुछ हो रहा है, उसकी मांग है कि हम परिस्थिति की जांच करें।—केवल पर्वतीय प्रदेशों की नहीं, अपनी परिस्थिति की जांच करें। सैर के लिए पर्वतों में गया हुआ सभ्य सामाजिक मानव अपना अधःपतन और गन्दगी वहां भी बिखेर आया है। एक विशेष प्रकार के कीड़े की तरह, जो पेड़ के पत्ते पर उसकी हरियावल खाता हुआ बढ़ता चलता है और इस प्रकार अपने पीछे पत्ते पर एक सूनी लकीर छोड़ जाता है, हम लोगों ने भी पहाड़ों की पुण्य-भूमि पर पतन और रोग और मृत्यु की एक गहरी रेखा खींच दी है।

समतल भूमि के लोग श्रेष्ठता के घमंड से भरकर कहते हैं कि पहाड़ों में क्षयी और मैथुनज रोगों के होने का कारण पहाड़ी लोगों का गन्दा जीवन और नीति-भ्रष्ट आचार है। यह अपने पाप को छिपाने का प्रपंच है। वास्तव में ये रोग समतल भूमि से वहां गए हैं। पहाड़ों में इन रोगों का नाम-निशान न होने के कारण ही वहां के लोग इनके प्रति निरापद (इम्यून) नहीं थे। कोई भी संक्रामक रोग जब बहुत देर तक किसी प्रदेश पर छाया रहता है, तब उसका बिष ही अपना विरोधी तत्व पैदा कर देता है और वहां के वासी उस विष के प्रति निरापद हो जाते हैं। यह एक वैज्ञानिक सत्य है। अफ्रीका के हब्शियों में भी क्षय रोग नहीं था; जब गोरे लोग उस

प्रदेश को क्षय-रोगियों के लिए लाभप्रद समझ कर वहां गये तब हब्शियों में क्षय का जीवाणु इतनी तीव्र गति से फैला कि आतंक छा गया। एच० जी० वेल्स ने अपनी एक कहानी में बताया है कि भविष्यत् रोग मुक्त समाज में आज का एक प्राणी जा घुसता है जो देखने में बिल्कुल स्वस्थ है, लेकिन उसके पहुंचते ही सारे देश में जुकाम फैल जाता है—क्योंकि जुकाम का जीवाणु उस देश में न होने से उसके प्रति निरापद होने की क्षमता भी नहीं थी।

रही वहां के आचार की बात। निःसन्देह आचार की दृष्टि से वे उस अवस्था में हैं जिसमें हम आज से सदियों पहले रहे होंगे। लेकिन वह आचार आत्यन्तिक रूप से गलत ही है, ऐसी बात नहीं है। आचार कोई शाश्वत नियम नहीं है, वह स्वभावतया विकासशील है। और विकास का पहला सिद्धांत है जाति की अस्तित्व-रक्षा—अर्थात् प्रकृति बिना मानव के जाने ही उसे उस दिशा में प्रेरित करती है जो उसका अस्तित्व कायम रखने के लिए सर्वोत्तम मार्ग है। हम आस्तिक हों या नास्तिक, यह बात हमें माननी ही पड़ेगी। और जब यह माना जाएगा तब किसी भी अवस्था का पहला हेतु—उसका औचित्य प्रमाणित करने वाला हेतु—हमें उस अवस्था के भीतर ही खोजना पड़ेगा।

इस दृष्टि से पहाड़ियों का आचार उनके जीवन के सर्वथा अनुकूल है—यानी अनीतिमय नहीं है। कुल्लू के अंचल से और आगे हिमाचल के हृदय के निकट बसने वाले लाहुली लोगों का आचरण इसका उदाहरण है। उन लोगों में शादी की रस्म बहुत सरल है और तलाक की रस्म उससे भी सरल, नर-नारियों को मिलने-जुलने की खुली आज़ादी है। लेकिन उनका जीवन हमारे जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक स्वच्छ और नियमित है। उनके पांच-छः तलाकों में 'मजिस्ट्रेट' का काम करने के बाद मुझे यह कहने मे ज़रा भी संकोच नहीं है कि अपने आचार-शास्त्र के भीतर लाहुली लोग जितने नीतिवान् हैं, हम लोग उसका दशमांश भी अपने नियमों के सम्बन्ध में नहीं है। यह मैं मानता हूं कि हमारे नियमों की अस्वाभाविकता ही उसका कारण है, लेकिन अस्वाभाविकता की बात मान लेने पर पहाड़ी लोगों की आलोचना करने का हमारा मुंह नहीं रहता।

हम लोग ऐसी हरकतें करते हुए पहाड़ियों को शिक्षित बनाने का अहंकार जितनी जल्दी छोड़ दें उतना ही अच्छा। वास्तव में हम कर क्या रहे हैं, इसका एक उदाहरण मुझे दाना की बस्ती में भटकती हुई एक रोगिणी युवती में मिला। मैं उसका फ़ोटो खींचना चाहता था, उसके लिए वह राज़ी नहीं हुई; लेकिन उससे अधिक कुछ के लिए वह अप्रस्तुत नहीं होगी, यह बात मुझ पर प्रकट करने में उसने संकोच नहीं किया—उसी ढंग से जो उसे किसी पूर्ववर्ती, अतिशय सभ्य-शिक्षित व्यक्ति ने पैसों की खनक के द्वारा सिखाया होगा!

मुझे विशष खेद नहीं है कि मैं यात्रा-वर्णन से इतनी दूर भटक गया। पहले मुख्यतया रोहतांग की जोत का वर्णन करने का विचार था, लेकिन जब शीर्षक सूझा तब यही उचित जान पड़ा कि उसे सार्थक करने में रोहतांग की जोत भी कुछ करती है, उसके साथ उसका वर्णन भी होना चाहिए जो मनुष्य ने उसे सार्थक करने के लिए किया है!

खैर। मनाली और उसके आस-पास का प्रदेश देखकर, हिडिम्बा देवी के मन्दिर की चोटी तक चढ़कर, वशिष्ठ-कुंड में स्नान करके, जब ऐसा कोई स्थान नहीं बचा कि एक दौड़ में

देखकर लौटा जा सके, तब तय हुआ कि रोहतांग की जोत देखी जाए। उस समय तक मेरे दो अतिथि आ गए थे, दो और मित्र भी पार्टी में शामिल हो गए। प्रबन्ध मेरे जिम्मे रहा।

हम लोगों ने दो टट्टू ठीक करके सामान आगे चलता किया। राह में दो रात ठहरना पड़ सकता है—यद्यपि कोशिश की जाएगी कि दूसरी रात मनाली पहुंच जायें—यह सोचकर मैंने पांच आदमियों के लिए पर्याप्त भोजन-सामग्री, कोको, डबलरोटी, कुछ सूखे फल आदि ले लिए। एक बोतल ब्रांडी की भी रख ली—बहुत ऊंचाई पर जाने से हृदय पर इतना दबाव पड़ता है कि कभी-कभी उसकी ज़रूरत पड़ जाती है। दो बार पहले ऊंची चढ़ाई के अनुभव से मैं यह जान गया था।

मनाली से रोहतांग तेरह-चौदह मील है। पहला पड़ाव कोठी पर (जहां डाक बंगला है और खाद्य-सामग्री भी मिलती है) या राहला पर होता है। राहला से ही रोहतांग की चढ़ाई आरम्भ होती है, अतः हमने वहीं पड़ाव करने का निश्चय किया। राहला मनाली से आठ मील है। हम लोग मज़े-मज़े चलते हुए शाम तक वहां पहुंच गए। दुपहर का भोजन करके चले थे, शाम को दिन छिपते-छिपते राहला पहुंच गए। चलते समय तीन साथी हमारे साथ और मिल गए थे, जिनमें से एक की खादन-शक्ति का अनुमान हमें नहीं था। जब राह के सुन्दर जल-प्रपात, व्यास नदी की टक्कर से कटे हुए पहाड़, चीड़ और बांज के जंगल, कहीं-कहीं छोटे बौद्ध-शैली के मन्दिर या **'ॐ मणि पद्मे हुं'** मन्त्र के शिलालेख देखते हुए, और सांझ की बारिश में भीगकर जाड़ा हटाने के लिए ज़ोर-ज़ोर से गाते हुए हम लोग राहला पहुंचे, और वहां के दो कमरे के पी० डब्ल्यू० डी० के बंगले में भूमि पर बैठने की जगह बनाकर साथ लाए हुए आलू के परावंठों पर टूट पड़े, तभी मुझे उन नवागन्तुक की प्रतिभा का अनुमान हुआ—और अगले दिन के लिए फ़िक्र भी ! पहाड़ों में ठंड के कारण भूख बहुत लगती है, और जो सामग्री हम लाये थे वह समाप्त-प्राय हो गयी थी।

हमारी पार्टी में दो जनों के पास कैमरे थे। हमने तय किया कि सवेरे चार बजे उठकर चल देंगे, ताकि सूर्योदय के समय रोहतांग पर पहुंच जायें—हमारा अनुमान था कि उस समय का दृश्य फ़ोटो के लिए बहुत अच्छा होगा।

लेकिन सवेरे साढ़े तीन बजे बाहर निकले तो दांत बजने लगे—इतने कड़ाके की सर्दी थी ! हम लोगों को और कोई उपाय तो सूझा नहीं, दो-दो आउंस ब्रांडी दोनों ने पी ली और चल दिए।

ब्रांडी ने पहले तो मदद की। कुछ गर्मी आयी, पहली चढ़ाई तो हम आसानी से चढ़ गए। लेकिन 11 हज़ार फ़ुट की ऊंचाई पर जाकर उसका विपरीत असर हमें मालूम होने लगा। ब्रांडी की यह सिफ़त है कि थकान या गिरती हालत में लो तो उत्तेजना देती है, लेकिन पहले पीने के बाद परिश्रम करने से बहुत सख्त 'डिप्रेशन' होता है। यही 'डिप्रेशन' उस समय प्रकट हुआ, साथ ही ऊंचाई का असर भी हुआ, मतली होने लगी। दो रातों का उनींदा और दो समय का उपोषण—'अनर्था बहुली भवन्ति' वाली बात हुई।

12 हज़ार फ़ुट की ऊंचाई पर बर्फ़ मिली। पहाड़ की एक गली या दरार में बर्फ़ का पुल बना हुआ था, उसके नीचे पानी बह रहा था। ऊपर से रास्ता था। यह पार करने के बाद तो चलना कठिन हो गया। कैमरे का बोझ भी असह्य जान पड़ने लगा। किसी तरह हम लोग रुककर चढ़ते गए।

भूख तो शायद नहीं लगी थी, लेकिन यह सोचकर कि इस कष्ट का कारण भोजन की कमी भी हो सकता है, मेरे साथी ने एक राह चलते लाहुली से खाने को कुछ मांगा। उसके पास केवल एक अधपकी मोटी रोटी, एक-दो प्याज थे; उसने मुस्करा कर वे साथी को दे दिए। उससे और भी बुरी हालत हुई।

किसी तरह चोटी के निकट पहुंच ही गए। एक ओर चट्टान की आड़ में बर्फ़ बिछी हुई थी, हम वहीं रुक गये, और कैमरे के स्टैंड से वर्फ़ पर नाम खोदने लगे। मैं जब बड़े-बड़े अक्षरों में अपना नाम खोद चुका, तब स्टैंड अपने साथी को देकर आगे बढ़ा। रोहतांग जोत की चोटी पर, राह से कुछ ही दूर पर हटकर व्यास-कुंड है, जहां एक छोटे सोते को दीवार से घेरकर मन्दिर-सा बना लिया गया है, मैंने वहां पानी पिया, फिर धूप सेकने के लिए लेट गया—तब रोहतांग की प्रसिद्ध हवा चलने लगी थी। नित्य ठीक दोपहर को यह चलती है, और इतनी घातक है कि 'मौत की घाटी' नाम का मुख्य श्रेय उसी को है।

लेटकर मैं उठ नहीं सका। मेरा शरीर ऐंठ गया, चक्कर आने लगे, सब कुछ नीला-नीला दीखने लगा···न जाने कब तक मैं प्रतीक्षा में पड़ा रहा कि साथी आ जायें, लेकिन (यह पीछे मालूम हुआ) वे जोत पर मुझे न पाकर यह समझ बैठे कि मैं दूसरी पार उतर गया हूं, और मील-भर नीचे चले गये—जहां से फिर वापस चढ़ाई चढ़ना उनके लिए सम्भव न हुआ।

क़रीब दो घंटे बीत गए। सूर्य की किरणें तिरछी पड़ने लगीं, और उनमें गर्मी का लोप होने लगा···मैं किसी तरह उठकर बैठा, फिर खड़ा हुआ, लेकिन जब कैमरा लेने के लिए झुका तो फिर बैठ गया।

और तब मुझे एकाएक निश्चय हो गया कि मैं अब वहां से नहीं उठूंगा—वहीं रह जाऊंगा। मेरी पार्टी के बाकी लोग अब तक अवश्य जोत देखकर लौट गए होंगे—तीन बजे के बाद कौन वहां ठहरता है? और अब उधर कुंड की ओर कोई नहीं आयेगा···कल—लेकिन एक रात यहां काट कर क्या मैं कल के लिए रह जाऊंगा?

आंखें और भी निकम्मी हो गयी थीं—सब कुछ नीला, कांपता हुआ-सा दीखता था। मैं आंखें बन्द करके सोचने लगा—अगर मेरे साथी न आए, तब कल मुझे देखकर पहचानेगा भी कौन? मेरे साथी तलाश करेंगे—लेकिन कहां पर?

मुझे याद आया कि बर्फ पर मैं अपना नाम लिख आया था—उन्होंने अवश्य देखा होगा ···लेकिन उससे अनुमान तो नहीं होगा कि मैं कहां हूं—उससे केवल यही जाना जा सकेगा कि 'मैं था'···और दो-तीन दिन बाद सूर्य की धूप उस चिह्न को भी मिटा देगी—बर्फ़ का वक्षस्थल फिर किसी और की लिखत के लिए उतना ही साफ़-स्वच्छ हो जाएगा! न जाने क्यों, मुझे यही बात एक भावी दुर्घटना-सी जान पढ़ने लगी कि मेरा नाम वहां से मिट जाएगा।

मुझे याद आया कि जब लाहौर में अपनी गैर-कानूनी कार्रवाइयों के कारण मुझे एक दिन सहसा घर से गायब होना पड़ा था, तब पुलिस से बचकर निकल जाने, मित्रों को सूचना देने, आगे का प्रबन्ध करने के बाद जब मैं स्टेशन पहुंच कर रेलगाड़ी में बैठ गया और फुरसत में सोचने लगा तब पहला विचार जो मेरे मन में आया वह यह था कि मेरे नये-नये छपाये हुए विज़िटिंग कार्ड अब बेकार हो जायेंगे—क्योंकि अब अपने असली नाम का तो मैं उपयोग ही नहीं कर सकूंगा!

चार बजे एकाएक सारा दृश्य बदल गया। मैंने अर्ध-चेतना की अवस्था में पास कहीं

गाने की आवाज़ सुनी—किसी तरह उठा, पुकारने की व्यर्थ कोशिश करता हुआ लड़खड़ाया, लेकिन फिर बैठते-बैठते मैंने देखा कि नावागन्तुक ने मुझे देख लिया है। मेरे सौभाग्य से वह लाहुल के सिविल सर्जन निकले जो नीचे लौट रहे थे, और उनके उपचार से मैं उठ सका। उन्होंने आग्रह किया कि मैं उनके साथ चलूं, लेकिन मुझे अपने साथी की चिन्ता थी, अतः उन्हें उनकी सहायता के लिए, और उनसे पायी हुई पेपरमिंट की टिकियों के पैकेट के लिए धन्यवाद देकर मैं अपनी राह चला।

और कहने को कम है—क्योंकि मैं बच आया।

मृत्यु का सामना करने का मेरे लिए यह पहला अवसर नहीं था, न अन्तिम। छः बार अपने को मृत्यु के समर्पित करके और फिर जीकर मैंने यही जाना कि, जब आदमी अपना नहीं रहता, अपने को दे डालता है, तब एक मोह जो वह नहीं छोड़ पाता वह है स्थायित्व का, जारी रहने का—दूसरे शब्दों में अपने नाम का—मोह। मनोवैज्ञानिक जो मूल प्रेरणाओं में से एक इस स्थायित्व-चेष्टा को गिनते हैं, वह उचित ही है। बल्कि वही सबसे मूल प्रेरणा है, उसी पर मानव का अस्तित्व—प्रकृति का अस्तित्व—कायम है। डर, प्रेम और भूख भी जब छूट जाते हैं, तब भी मानव की अपने आपको कायम रखने की लालसा बनी रहती है। अपनी जाति को बनाये रखना अपने को बनाये रखने का दूसरा नाम है इस प्रकार यह स्थायित्व चेष्टा वास्तव में सृजन की चेष्टा है।

एक जीवन में पकड़ पाने के लिए यह एक सत्य बहुत काफ़ी है कि जब लालसाएं झड़ जाती हैं—जब मानव पशुता की भी और फिर मानवता की भी केंचुल उतार फेंकता है, तब उसके भीतर जो बना रहता है, वह वह है जो नित्यता चाहता है, जो नष्ट होते हुए भी नया सृजन करना चाहता है—जो नश्वर होकर भी ईश्वर है। इससे बढ़कर भी कोई सत्य मौत की इस घाटी में जाना जा सकता है, यह नहीं दीखता।

सन् 1935 में लेखक की हिमाचल यात्रा के संस्मरण। 'अरे यायावर रहेगा याद' से साभार।

कहानी

चमचम

□ महाराज कृष्ण काव

एक बजे भी जब वे नहीं आए तो मैंने ज्योति से कहा, "मेरा ख्याल है चावल चढ़ा दो," और फिर से काम में उलझ गया।

डेढ़ बजे घंटी बजी तो मैं चौंका। बाहर देखा, किशोर और उसकी नव-ब्याहता ही थे।

"कहां रह गए थे तुम लोग? बड़ी देर कर दी," मैंने पूछा।

हमेशा की तरह शर्माते हुए किशोर ने होठों में ही बुदबुदा दिया, "कुछ नहीं अंकल। आज छुट्टी थी ना! यह बाल सुखा रही थी…"

किशोर की बीवी को देखने की उत्सुकता तो थी ही। उन्हें बिठाते हुए मेरा ध्यान उस पर एकाग्र हो रहा था।

"क्या नाम है बेटे?" मैंने पूछा। वह किशोर से लम्बी लग रही थी।

"रमोना," उसने कहा और ज़रा-सा मुस्कराई। उसने हाथों में नरगिस के फूलों का गुलदस्ता पकड़ा हुआ था। वह शायद थोड़ी-सी घबराई हुई थी, वरना अगर वह गुलदस्ता हमारे लिए था तो उसे दे देना चाहिए था। साथ ही मैंने देख लिया उसने हाई-हील वाली चप्पल पहनी हुई थी।

इतनी देर में ज्योति भी आ गई। वह रमोना से बात करने लगी तो मैं सोचने लगा कि यह लड़की जब पहले से ही लम्बी है तो हाई-हील पहनकर अपने पति से लंबी क्यों दिखना चाहती है।

जब हम खाने के लिए उठे तो मैंने रमोना से कह ही दिया, "यह गुलदस्ता हमारे लिए लाई हो? बहुत सुंदर है। लाओ मुझे दे दो," फूल उसके हाथ से लेकर मैंने फूलदान में सजा दिये।

भोजन के बाद जब हम धूप वाले कमरे में बैठे, तब तक दोनों हमसे खूब हिलमिल गए थे। रमोना ने अभी एम० बी० बी० एस० किया था। अब सवाल यह था कि उसे हाउस जॉब किस लाईन में करना चाहिए।

किशोर बोला, "अंकल, मैं इससे कह रहा था कि इसे गायनी या पीडिएट्रिक्स में पी० जी० करना चाहिए।"

रमोना हंसकर बोली, "लेकिन अंकल मैं तो आई में पी० जी० करना चाहती हूं।"

विवाद उठते ही मैंने किनारा करने में ही कुशल समझी। अब न जाने क्यों दोनों अलग-अलग बात कर रहे हैं।

पूछा, "क्यों ?"

रमोना बोली, "आई में स्कोप ज्यादा है।"

किशोर के तांबई चेहरे पर खीज के निशान उभरे, "स्कोप-वकोप कोई ज्यादा नहीं है। हर गली में आई वाले दुकान खोले बैठे हैं, कोई नहीं पूछता।"

रमोना उससे दबी नहीं। उसका चेहरा वैसे ही हंसमुख था, तिसपर बार-बार खिलखिलाती थी। उसके दांत टेड़े-मेढ़े थे, मगर कुल मिलाकर भोलेपन का एहसास होता था।

"बड़ी सोफिस्टिकेटिड लाईन है," वह बोली, "आजकल लेज़र सर्जरी भी आ गई है।"

मैं एक बार खुद लेज़र सर्जरी करवा चुका हूं। इसलिए जानकार बनते हुए मैंने कहा, "अमेरिका में तो लेज़र अब बहुत आम हो गया है। वहां हर एक डाक्टर ओ० पी० डी० में लेज़र सर्जरी कर देता है।"

किशोर मेरी बात पर लपका, "यही तो ! बहुत कॉमन हो गई है आई की सर्जरी। और फिर कितने लोगों की आँखों में कोई प्राब्लेम होती है। गाईनी को देखिए। आखिर बच्चा तो सब औरतों के होता है।"

मैंने नोट किया किशोर अब खूब बोलने लगा है। मेरे दूर के जान-पहचान वाले का बेटा है। यहां नौकरी लगी है, तबसे दो-तीन बार आया है। मगर हमेशा बड़ा सीरियस, मित-भाषी रहता है। आज तो चपर-चपर बोल रहा है। जैसे शादी से ज़बान खुल गई हो।

ज्योति ने भी अपनी बात रखी, "वैसे पीडियेट्रिक्स भी बहुत अच्छी ब्रांच है।" मेरी तरफ आंख से इशारा करती हुई बोली, "इनकी भाभी है। उन्होंने अहमदाबाद में नर्सिंग-होम खोला है। उसमें समय से पहले पैदा हुए बच्चों का इलाज होता है। खूब चल निकला है।"

मुझे ख्याल आया किशोर ने खुद साईकैट्री में पी० जी० किया है। मैंने कहा, "बेटे, तुम भी साईकैट्री क्यों नहीं करती ? दोनों इकट्ठे प्रैक्टिस करो। तुम अपने महिला बीमारों को इनके पास भिजवाना, यह पुरुषों को तुम्हारे पास भिजवाया करेंगे।"

रमोना खिलखिलाकर हंसी, "हां, और उनको कोच पर बिठाकर फ्रायड की तरह पूछूंगी—बताओ, कल रात तुम्हें क्या सपना आया था ?"

किशोर नहीं हंसा। वह थोड़ा सीरियस हो गया था। ज्योति ने शायद उसकी हिचकिचाहट को भांप लिया। बोली "नहीं, भई, दोनों का साईकैट्रिस्ट बनना तो कुछ जंचा नहीं। कोई ऐसा काम क्यों नहीं जो साईकैट्री के साथ जमे।"

किशोर ने अबकी उत्साह दिखाया, "हां आंटी। बहुत अच्छा सुझाव है। जैसे पैथोलोजी कर सकती है। स्कोप भी अच्छा है और पेशेंटस के साथ कोई कांटैक्ट भी नहीं रहता।"

मैंने देखा कि रमोना को हम सबके सुझाव कुछ जम नहीं रहे थे। मुस्कराते हुए बोली, "अंकल, मैं अपने कॉलिज में फर्स्ट आई हूं। जितने टॉपर हैं, सब आई लेते हैं। और फिर हमारे कॉलेज का आई डिपार्टमेंट बहुत स्ट्रांग है।"

"होल्ड ऑन, होल्ड ऑन," मैंने उसे बीच में टोककर कहा, "तुमने तो फैसला भी कर लिया कि तुम लुधियाना में ही पी० जी० भी करोगी।"

"ऑफ कोर्स," वह आत्म-विश्वास से बोली, "और कहां ? मैंने वहीं से एम० बी० बी० एस० किया है। एण्ड आई लव लुधियाना।"

"तुम्हारा क्या ख्याल है, किशोर," ज्योति पूछ बैठी, "क्या तुम लुधियाना में सेटल होना चाहोगे ? सारी उम्र के लिए ?"

किशोर मंद-मंद मुस्कराया, "आंटी, मैंने तो इससे कहा था कि यह भी यहीं आ जाए। मगर इसे लुधियाना ही पसंद है।"

"लेकिन, तुमने भी सोचना है," मैंने कहा, "यह कोई एक दिन की बात थोड़े ही है। तुम क्या यहां की लगी लगाई नौकरी छोड़कर चले जाओगे ?"

"हां, अंकल। मैं लुधियाना जाने के लिए तैयार हूं। अभी-अभी तो शादी हुई है। मैं यहां अकेला नहीं रहना चाहता।"

"हूं," ज्योति ने उसे चिढ़ाने के अंदाज़ में कहा, "इसका मतलब है यू लव हर मोर दैन शी लव्ज यू।" और हम सब हंस पड़े।

"भईया किशोर," मैंने किशोर के शाने पर हाथ रखकर कहा, "इतना लड़की को आसमान पर मत चढ़ाओ, यह नचाती रहेगी सारी उम्र। मुझसे पूछो, पूरा हेनपेकड हस्बंड हूं।"

"नाउ, नाउ, अंकल," रमोना शरारती लहज़े में बोली, "मेरे ही सामने आप इनको पट्टी पढ़ा रहे हैं। कुछ तो पर्दा कीजिए।"

मैंने किशोर को देखा। आदतन संजीदा किस्म का वह नौजवान मुस्कराने की कोशिश तो कर रहा था, मगर उसकी आँखें रमोना को आजिज़ी के साथ निहार रही थीं। मानो कह रही हों—मेरे प्यार का मज़ाक मत उड़ाओ।

"अच्छा यह बताओ," ज्योति ने रमोना से पूछा, "तुम दोनों का कोई झगड़ा तो नहीं हुआ ?"

अब तक रमोना काफी खुल गई थी। उसने बेझिजक होकर कहा, "आंटी, मैं इनसे कहती हूं कि यह सिगरेट पीना छोड़ दें, यह मानते ही नहीं।"

मैंने किशोर को कड़ी नज़र से ताका, "तुम सिगरेट पीते हो ?"

किशोर ने रास्ता तलाशा, मगर बचने का उपाय न था। बोला, "अंकल, पहले पीता था," फिर रमोना से शिकायतभरे स्वर में कहने लगा "अब कहां पीता हूं ?"

उसकी आवाज़ में यह भी ज़ाहिर था कि—रमोना अंकल से क्यों कह दिया, यह डैडी के दोस्त हैं, उनसे कह देंगे।

जब से मैंने सिगरेट छोड़ी है, मैं सिगरेट पीने वालों का जानी दुश्मन बन गया हूं। जहां मौका लगे, उन्हें कन्वर्ट करने की जी-जान से कोशिश करता हूं।

"देखो किशोर, हमसे मत छिपाओ," मैंने कहा, "अब मैं मजाक नहीं कर रहा, बहुत संजीदगी से कह रहा हूँ, तुमको रमोना की बात माननी चाहिए। अभी, इसी वक्त कसम खाओ अब सिगरेट नहीं पियोगे।"

किशोर बगलें झांकने लगा। फिर अपने को फंसा हुआ जानकर बोला, "अंकल, मैं तो छोड़ दूंगा। मगर इसको भी तो कुछ कहिए। मैंने इसको कहा लिपस्टिक न लगाया कर। यह मानती ही नहीं।"

मुझे लगा किशोर कुछ बहकी-बहकी बातें करने लगा है। भला सिगरेट का लिपस्टिक से क्या वास्ता ?

ज्योति बीच में बोल पड़ी, "क्या कह रहे हो तुम ? अरे लिपस्टिक तो सब लगाते हैं।"

"अरे आंटी, आपको नहीं पता," चुलबुली रमोना चहक उठी, यह तो कहते हैं कुछ मत लगाओ। मांग में सिंदूर नहीं, आंख में काजल नहीं, माथे पर बिंदी नहीं। गालों पर पाउडर

नहीं, होंठों पर लिपस्टिक भी नहीं। सभी चीजों में जहर है।"

"हां हां, जहर है," किशोर बोला, आप हर्बल कॉस्मेटिकस पर कोई भी किताब पढ़ें, लिखा है—किस चीज़ में कौन-सा जहर घुला हुआ है। और फिर रमोना तो वैसे ही खूबसूरत है, इसे कुछ भी लगाने की क्या जरूरत?"

मुझे किशोर का तर्क अटपटा लगा। "अरे भई औरतें कॉस्मेटिक न लगाएं, यह कैसी बात कर रहे हो? कभी हुआ है ऐसा?"

इससे पहले कि किशोर कुछ कहता, रमोना बोली, "अब सारी बातें अंकल-आंटी से बता रहे हो, तो वह भी बता ही दो।"

"कौन सी?" किशोर बनते हुए बोला।

रमोना खिलखिलाई, "अरे वही समोसे वाली बात!"

"अच्छा, वह!" किशोर ने कहा जैसे अब समझा हो और कुछ हिचकिचाहट-सी महसूस करते हुए चुप हो गया।

"अरे, भई," मैंने उत्सुकता से कह दिया, "मेरे से कोई भी सस्पेंस की स्थिति ज़्यादा देर बर्दाश्त नहीं की जा सकती। बता दो ना। समोसे की क्या बात है?"

किशोर अभी हकला ही रहा था कि रमोना ने जोड़ दिया, "अंकल, सिर्फ समोसे ही नहीं चमचम भी।"

"अरे-रे!" मैंने ड्रामाई अंदाज़ में कहा, "समोसे तक तो ग़नीमत थी। यह चमचम कहां से टपक पड़े?"

किशोर ने अपने सीरियस लहज़े में कहा, "यह कोई हंसी की बात नहीं है, अंकल।" झिड़की खाकर मैंने संजीदा मुंह बना लिया। "बात यह हुई कि आजकल यह गांव की डिस्पेंसरी में ट्रेनिंग ले रही है। वहां इसके साथ सात मेल डाक्टर्स हैं। और एक भी लड़की नहीं है वहां।" कहते हुए वह रुआंसा हो गया।

"आह!" मैंने उसे चिढ़ाते हुए कहा, "ही इज़ जैलस।"

ज्योति बहुत हमदर्दी के साथ किशोर के चेहरे को पढ़ने की कोशिश कर रही थी। बोली, "क्या हुआ?"

"आंटी उस दिन इनकी बस लेट हो गई। तो उन सात में से एक ने कहा कि उसका जन्म-दिन है और वह ट्रीट देना चाहता है। वह इनको वहीं एक हलवाई के पास ले गया और वहां सबको एक-एक समोसा और एक-एक चमचम खिला दिया।"

"तो?" मेरे मुंह से निकला। मैं समझ नहीं पा रहा था कि इस सब में क्या अनर्थ हो गया।

"अंकल, आप समझते क्यों नहीं? वे सात लड़के थे। इतनी शाम हो गई थी। क्या इसे उनके साथ हलवाई के पास बैठकर समोसे और चमचम खाने चाहिए थे?"

"झूठ," रमोना ने कहा, "हमने खड़े-खड़े ही खाए थे। वहां बैठने की जगह ही नहीं थी। और आंटी! वे सात लड़के थे। मैं किसी के साथ अकेली तो नहीं गई थी। हाउ कुड आई से नो?"

मैंने वातावरण को थोड़ा हल्का करने की कोशिश करते हुए कहा, "देखो, रमोना! समोसे तक तो ठीक था, मगर तुम्हें चमचम नहीं खाने चाहिए थे···" और मैं खुद ही हंस पड़ा।

रमोना मेरे साथ हंसी, मगर खुलकर नहीं। ज्योति और किशोर तो बिल्कुल नहीं हंसे।

दो पल खामोशी रही, फिर रमोना बोली, "जब सभी कुछ बता रहे हो, तो वह माल रोड वाली बात भी सुना दो।"

किशोर कुछ क्षण रुका, मानो इस बात को मन-ही मन तौल रहा हो। फिर कहने लगा, "परसों हम लोग मॉल पर जा रहे थे। वही लड़का हमें क्रॉस कर गया। वह रमोना को देखकर मुस्करा रहा था। रमोना ने मुड़कर उसकी ओर देखा। लड़के ने भी मुड़कर देखा। दोनों एक दूसरे को देखकर मुस्करा रहे थे।" और एक क़ाबिल वकील की तरह वह रुका, शायद देखने कि ज्यूरी पर उसकी दलील का क्या असर पड़ा है।

रमोना हमारी प्रतिक्रिया को आंक रही थी। उसने हमारे चेहरों पर इस 'निंदनीय' व्यवहार के बारे में कुछ सवाल भांपे होंगे। सफाई में बोली, "ऐसा हुआ, अंकल। मैं थोड़ी मयोपिक हूं। वह लड़का मेरे सामने से गुज़रा तो मैंने नोटिस नहीं किया। जब वह क्रॉस कर गया, मैंने पहचान लिया। इसीलिए मुड़कर देखा। वह मुस्करा रहा था, और मैं भी मुस्करा दी।"

मैं रमोना के डिफेंस में लपका, "दरअस्ल बिटिया का चेहरा ही हंसमुख है। वह तो शायद चिड़िया और बिल्ली को देखकर भी मुस्कराती होगी।"

ज्योति ने हमारा इतिहास उकेरा, "अरे, अब यह तुम्हें नसीहत देंगे। यह तो खुद भी बड़े जैलस हुआ करते थे। शादी के बाद एक दिन हम सिनेमा देखने गए। वहां किसी मनचले ने मुझे देखकर सीटी बजाई। यह वहां एस. डी. एम. थे। फौरन पुलिस को बुलवाकर उसे हवालात भिजवा दिया।"

"जैलस तो मैं आज भी हूं," मैंने मुस्कराते हुए कहा। मानो मैं झूठ बोल रहा था, हालांकि मुझे मालूम था कि इससे बड़ा सच और कोई नहीं है, "आज भी हम किसी पार्टी में जाएं और कोई आदमी तुम्हारी आंटी से लंबी बात करे तो जी होता है उसका मुंह नोच लूं।"

"और हमारी शादी हुए बाईस साल हो गए हैं," ज्योति ने जोड़ा। मुझे संदेह है कि मेरे जैलस होने से वह अंदर ही अंदर खुश है।

"खूबसूरत बीवी से शादी करने का यह एक जोखिम है किशोर," कहते हुए मैंने दोनों लेडीज़ की ओर ऐसे अंदाज़ से देखा कि ग़ौर कीजिए मैं आपका कितना मस्का लगा रहा हूं।

रमोना ने नाटकीय मुद्रा में झुकते हुए कहा, "थैंक्यू, अंकल"। ज्योति के होठों पर भी मुस्कान थी।

"मगर, अंकल," किशोर ने आहत भाप के साथ मुझे घूरते हुए कहा, "क्या इसको मुड़कर उसे देखना चाहिए था?" वह बहुत संजीदगी से उत्तर मांग रहा था।

उसके इस अंदाज़ को देखते हुए मुझे लगा कि सारी बात साफ हो रही है।

मैंने अटकते हुए कहा, "अच्छा, अच्छा," मैं सोच भी रहा था और बोल भी रहा था, "इसीलिए तुम लुधियाने जाने के लिए तैयार हो गए हो। तुम्हें डर है, अगर तुम साथ नहीं रहे तो कहीं तुम्हारी खूबसूरत बीवी को कोई उठा न ले जाए⋯और हां इसीलिए तुम चाहते हो कि यह गाईनी में पी० जी० करे, ताकि इसका वास्ता सिर्फ औरतों से पड़े। या पीडियैट्रिक्स में करे, जहां बच्चों से डील करना होता है⋯। और इसीलिए तुम नहीं चाहते कि यह पाउडर, लिपस्टिक लगाए, ताकि यह और सुंदर न लगे।" और मैं इस विजयी अंदाज से मुस्कराया मानो

मैंने न्यूटन की तरह कोई नया रहस्य पा लिया हो।

रमोना ने कहा, "अंकल, यही नहीं। यह कहते हैं हमें अभी से बच्चा प्लैन करना चाहिए।"

किशोर बीच में बोल उठा, "वह इसलिए अंकल, क्योंकि मैं तीस का हो चुका हूं। अब भी बच्चा नहीं होगा तो मेरी रिटायरमेंट तक वह सेटल नहीं हो पायेगा।"

"हूं," मैंने दार्शनिक अंदाज़ में कहा, "यह तो तुम रेशनलाईज़ कर रहे हो। अस्ल में तुम समझते हो बीवी प्रेग्नेंट होती तो···"

रमोना अपनी एक्साइटमेंट में ताली बजाकर उछल पड़ी। "अंकल, यू आर ग्रेट। आपने तो साईकैट्रिस्ट साहब को ही साइकोएनालेज़ कर दिया।"

किशोर कुछ नहीं बोला। ज्योति ने स्थिति को संभालते हुए कहा, "चलो, चलो, अब बहुत बातें हो लीं, यह बताओ, कहवा चलेगा ?"

[सी० 11, बेमलोई, शिमला-171001]
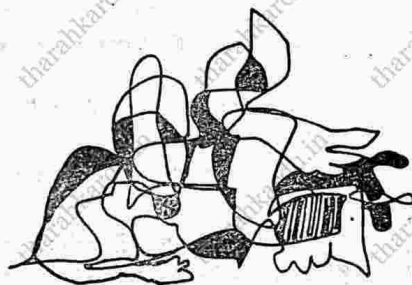
विरासत

□ रेखा

आंगन में नल के नीचे गहरे नीले रंग की मरदाना कमीज़ पर साबुन की चक्की रगड़ते-रगड़ते उर्मि के हाथ निढाल से हो आए। उसने पत्थर की दीवार से पीठ टेक ली और लगातार भीतर वाली कोठरी को ताकते लगी।

"खोल···दरवाजा खोल। खोलेगी या नहीं ? तू कमजात···खोल भी दे ना···।"

कुछ देर लातों और मुक्कों की आवाज़ में उनका विक्षिप्त क्रोध दनदनाता रहा। फिर केवल कराहें सुनाई देने लगीं।

बन्द दरवाज़े के भीतर फर्श पर बीजी पड़ी होंगी। आंखें आधी मुंदी हुई। बर्फ़ जैसे ठण्डे हाथ और माथे पर लगातार पटकते रहने से उठ आए नीले गूमड़।

लगभग पांच वर्षों से यही चल रहा है। धीरे-धीरे उन्हें नाम भूलने लगे थे। फिर स्मृति में घटनाएं गड्डमड्ड होने लगीं। अब तो यह भी याद नहीं रहता कि घर में अन्दर-बाहर चलती-फिरती ये दो भरी-पूरी औरतें हुई लड़कियां, उर्मि और शुभा उनकी अपनी बेटियां हैं। तब घंटों एक ही रट लगाए रहती हैं—"जा, जाती क्यों नहीं अपने घर···निकल भी जा···जा अपने घर···अभी जाएगी या फिर···।"

आज भी वे कुछ देर पहले उर्मि की ओर चप्पल लेकर झपटी थीं तो उसने उन्हें भीतर वाली कोठरी में ठेलकर बाहर से कुण्डी लगा ली थी।

उर्मि फिर नीली कमीज़ पर साबुन रगड़ने लगी। इसी मंगलवार मणि भाई उसे इन्टरव्यू के लिए जालंधर ले गए थे। उन्होंने यही कमीज़ पहन रखी थी। मोटर साइकिल पर मणि भाई के इतना करीब बैठकर कैसा लगा था। कई बार तो इतना भी भूले जा रही थी कि हर रोज़ इसी सीट पर मीना दीदी और आगे-पीछे विकी और अनु बैठते हैं···।

एक के बाद एक लगभग दस सालों में कितने इन्टरव्यू हुए, याद तक भूलती जा रही है उर्मि।

हां, हर बार मणि भाई का संग, किसी होटल में मेज़ के आर-पार बैठकर खाना खाने का क्षणिक सुख या किसी भीड़ भरे बाजार में उनके अगल-बगल चलने की पुलक मन में कई दिनों तक सिहरती रहती।

उर्मि ने नीली कमीज़ का ऊपर वाला बटन बन्द किया···फिर खोला। कितनी चौड़ी छाती है मणि भाई की। घने, काले, घुंघराले बालों में से झांकती हुई···क्या मणि भाई जान पाएंगे कि मंगलवार की रात उनके यहां से लौट जाने के बाद उर्मि पसीने और धूल से सनी यही

कमीज पहनकर सोई थी ?···शनिवार को वे जब दीदी और बच्चों के साथ आएंगे तो उन्हें अपने कपड़े धुले-धुलाए, एकदम साफ मिलेंगे। और वे इन्हें एक अधिकार के साथ स्वीकार करेंगे। इतने वर्षों मे वे इस आवभगत के ऐसे अभ्यस्त हो चुके हैं कि मुंह से—"थैंक्यू उर्मि···" यह कहना भी फालतू लगता है।

छ: बहिनों में सबसे बड़ी मीना के पति हैं मणि भाई। जब से बाबूजी को दिल के दौरे पड़ने लगे हैं, उनका पारिवारिक कामों के लिए बाहर-भीतर आना-जाना बहुत कम हो गया है। चार बेटियां तो अपने-अपने घर सुखी हैं या दु:खी—इतना ही बहुत है कि ठिकाने लग गई हैं। बस उर्मि और शुभा···इन दोनों का बोझ अभी बाकी है। कभी-कभी तो बाबूजी बिस्तर पर पड़े-पड़े सोचने लगते हैं कि बोझ उर्मि व शुभा हैं या दिल के मरीज़ वे और दिमाग़ की मरीज़ बीजी।

बाबूजी के बाद मणि भाई एक तरह से उर्मि और शुभा के अभिभावक हैं। नौकरी की तलाश हो या उनके लिए वरों की तलाश, ये दो समानान्तर अभियान लगातार चल रहे हैं। परन्तु न जाने क्यों परम तत्त्व की खोज की तरह अनन्त हुई जा रही है यह खोज। उर्मि चौंतीसवें साल की दहलीज पर है और तीस की मुंडेर पर है शुभा···। दोनों एक-दूसरे को आइने की तरह देखती हैं और आंखें चुरा लेती हैं।

एक-दूसरे की आंखों में न जाने किस भय की छाया देखकर वे अपनी बात छोड़कर अपनी बहनों की चर्चा छेड़ देती हैं। "शुभा, मुझे बहुत बुरा लगता है। मीना दीदी तो बस मुटियाती ही जा रही है।···उन्हें अपनी फ़िगर का ख़्याल रखना चाहिए ना ? मणि भाई जैसे स्मार्ट पति और खुद ? एकदम फूहड़। मैं होती तो···!"

"तो···क्या कर लेती ? वीना दीदी कम स्मार्ट है क्या ? पर अतुल भाई के आगे थर-थर कांपती है। ऐसा भी क्या डरना। मैं होती तो···।"

"तो क्या कर लेती ?" सो जा अब···तेरा तो वक्त आने वाला है। देख लेना क्या-क्या कर सकती है तू। सो जा। सुबह स्कूल जाना है। मुझे तो आधी रात तक नींद नहीं आती। सुन, आज मैं नींद में बोलूं तो तू थप्पड़ मारकर जगा देना। समझी ?"

"ठीक है। बत्ती बुझा दूं ?"

"नहीं, रहने दे शुभा। बीजी अंधेरे में घबड़ा जाएंगी।" जब शुभा सो जाती है तो भी उर्मि को जागना होता है। बारह बजे बाबूजी को दवाई देनी होती है। रात के सन्नाटे में सब-कुछ साफ़-साफ़ समझना आसान होता है।

शुभा तो किसी प्राइवेट स्कूल में तीन सौ रुपया महीना लेकर पढ़ाने लगी है। कम से कम कहने को तो नौकरी पेशा लड़की है। फिर बाबूजी की सीमित आय में तीन-सौ यानि आटे में दाल जितना तो वह भी डालती ही है। उर्मि के जिम्मे बाकी सारे काम हैं—घर-बार, अस्पताल और डाक्टर सभी। बाबूजी और बीजी की सामाजिक जिम्मेदारियों को निभाना भी इनमें शामिल हैं। वाह री, सौ बूढ़ों की बूढ़ी उर्मि !

उर्मि नये सिरे से कुछ सोचने-समझने लगी है कि कब, किस दिन बाबूजी ने उसे बेटी के साथ-साथ बेटा भी मानना शुरू किया होगा। कितनी ऊहापोह के बाद निश्चय करके उसे घर से अकेले बाहर जाने की अनुमति दी होगी। शायद किसी शाम बालों में मेंहदी लगाती उर्मि को देखकर उनके मन में यह सच कौंधा होगा कि इस उम्र में पहुंचने के बहुत पहले बीजी पांच

बेटियों की मां बन चुकी थीं···! समझा होगा कि उर्मि अब उस सीमा से बाहर निकल चुकी है जहां उसे हर नज़र मैला कर सकती थी। जब से बीजी का सहारा छूटा तभी से बाबूजी के लिए वह अंधे की लाठी हो गई थी। उर्मि के रहते शुभा को अभी तक वे छोटा मानते थे। शुभा को भी लगता रहा कि अभी दीदी है तो मेरी बारी उनके बाद ही आएगी। कितना कठिन रहा होगा बाबूजी के लिए यह भरोसा जुटाना कि उर्मि अपने साथ उन्हें भी संभाल लेगी।

उर्मि की आंखों में, उस एक शाम देखा बाबूजी का वह सफ़द, फ़क्क-शर्मसार चेहरा घूम गया। वह एम० ए० करके आ चुकी थी। घर में मणि भाई थे। उस शाम उनके साथ उनके कोई मित्र भी बैठे थे। वैसे यह इस घर में अनोखी बात थी कि दामाद लोगों या बाबूजी के रिटायर्ड साथियों को छोड़ कोई बाहर का मर्द प्रवेश पा सके। घर के चारों ओर जैसे हमेशा कंटीली तारें बिछी रहतीं। एक के बाद एक जवान होती छः बेटियों के पिता बरसों से एक सजग प्रहरी की तरह थे। अपने जीवन के एक लम्बे हिस्से में बाबूजी पके फलों वाले बाग की मचान पर बैठे पहरेदार ही रहे। हाथ में हमेशा पत्थर लिए···।

उस दिन कैसे अचानक वह शर्मनाक घटना घटी। बाज के झपटने की तरह आंगन के बीचोंबीच कहीं से कुछ आ गिरा था। मणि भाई के दोस्त के पैरों के पास। जरूर किसी की शरारत थी। बाबूजी के उठने से पहले ही उन्होंने उठाया। एक पुस्तक थी और मुख पृष्ठ पर छपा था—'सचित्र कोकशास्त्र।'

कितना जलील अनुभव कर रहे थे बाबू। घण्टों कुछ कह नहीं सके। छत पर जाकर लौट आए थे। जरूर कोई भी नहीं रहा होगा वहां। क्या कोई इतनी चालाकी से सेंध लगा लेगा? उर्मि को भीतर तक बाबू की त्रासद नियति छीलती चली जाती है।

उर्मि के दोनों हाथ नीली कमीज़ पर जड़ हो गये हैं—मन भर भारी। वह उन्हें उठाना चाहती है। दरवाजा खोलकर बीजी को खाट पर डाल दिया जाए। बीजी को जिसने भी पांच साल पहले देखा होगा वही आज इन्हें देखकर अपना सिर धुन लेगा। छोटे कद की सांवली बीजी। आंगन में मशीन के आगे झुकी हुई? मुहल्ले भर की औरतों को सिलाई-कढ़ाई-बुनाई में सलाह-मशवरा देती हुई···। उधर मुंडेर फांदकर आवाज आती—"बीजी, दो सेर नींबू हों तो नमक कितना···?"

बीजी सिलने को लगाया कपड़ा छोड़कर उठतीं—

"ठहर बंसी की बहू—मैं ही अचार डलवाए देती हूं।"

"बीजी मरदाना स्वैटर है···कंधे के कितने जोड़ छोड़ूं?"

"रहने दे री···छोड़ जा यहीं। मैं ही पूरा कर दूंगी।"

बीजी न जाने कितना टीसता हुआ यह एक दर्द उम्र भर छुपाती आई कि एक बेटा तक पैदा नहीं कर पाईं। कम से कम बाप के सिर का बोझ कंधे तक आता। उसी एक आस में एक के बाद एक छः बेटियां। बीजी हर बार मौत की घात को तन-मन पर झेलती प्रसूतिगृह में जाती और झोली में किलकती एक शूल लेकर लौट आती। इन उठती किलकारियों में बाबूजी का पौरुष तो जैसे गूंगा होता गया। बीजी का छोटा कद लगातार घिसता रहा। रात-दिन इसी दुःख को कुछ हल्का किये देने की इच्छा में वह कुछ-न-कुछ कमाकर बाबूजी का बोझ बांटना चाहती रहीं। सुख में, दुःख में—मरदाना हौसला और बूता दिखाती फिरीं।

जब भी बाबू कोई चिट्ठी पाकर किसी नाम-पते की तलाश में अपना लोहे का छोटा

ट्रंक उठाए चलने को होते, बीजी नायलन की टोकरी में दो जोड़ी कपड़े रख साथ चलने को तैयार रहतीं, "मैं भी चलती हूं। दो हों तो एक-दूजे का सहारा रहता है।"

बड़ी चार बेटियों के लिए रिश्ते देखने वे साथ गई हैं। चिट्ठियां लिखो जवाब का इन्तज़ार करो — फिर किसी दिन चल दो। छानबीन, देख-भाल सब ज़रूरी है। आज के ज़माने में कोई सिर्फ कहे-सुने पर तो भरोसा कर नहीं सकता। सब बातें सही बैठ भी जाएं तब भी बाबूजी की तसल्ली नहीं होती।

"बुरा न मानें तो मुझे कुछ और पूछना है···।"

"जी···।"

"आप शराब तो नहीं पीते?"

"जी नहीं।"

"सिगरेट?"

"जी···जी···।"

ऐसा कई बार हुआ है कि आगे-आगे बाबू पीछे-पीछे बीजी थके कदमों अपनी-अपनी गठरी घसीटते खोज से खाली लौट आते। लौटते हुए उनके चेहरे देखते ही बनते। सारा दुःख इश्तहार की तरह चेहरों पर टंग जाता। सयानी बेटियां उनकी अतिरिक्त थकान देखकर ही समझ जातीं कि ज़रूर लड़के के चाल-चलन में खोट रहा होगा।

उर्मि ने हाथ नीली कमीज़ पर भींच लिए। उसकी आंखें छलछला आईं। मन में आया कि जाकर बीजी को कंधे से झिझोड़कर पूछे, "क्या इसीलिए मुझे सबसे लाडली कहते थे? बीजी,···क्या मेरे लिए लड़का ढूंढ़ने नहीं जाना था तुम्हें? बाबूजी को दिन-रात मेरे लिए कुछ करने को नहीं कहना था?···मेरे लिए साड़ी में तारे नहीं टांकने थे? यह अच्छा किया बीजी कि सबकी चिन्ता में खुद को इतना थका लिया कि बस सदा की चिन्ता ही खत्म···मोह की सीमा ऐसी पार कर ली कि बिल्कुल निर्मोही हो लीं।"

"बीजी···बीजी···" उर्मि सिसक रही है और मणि भाई की पहले से गीली कमीज़ भीग रही है।

आज बाबू दूकान पर नहीं बैठे होंगे, नहीं तो अब तक खाना खाने आ जाते। घुटनों पर आँखें रगड़ते हुए वह सोचती है। कितनी बार बाबू से कह चुकी है कि उसे दूकान पर बैठने की इजाज़त दे दें। महीने में उनके पन्द्रह दिन तो बिस्तर पर बीतते हैं। बाकी दिन दूकान खुले भी तो क्या बनता है?

पूंजी के नाम पर शीशे के खाली मर्तबानों की कतारें। अचार-मुरब्बे की दूकान अच्छी चलती होगी कभी। अब तो बस आगे की कतार में कुछ मर्तबानों में सूखा गुलकन्द पड़ा है या हरड़ का मुरब्बा। कुछ पुराने दोस्त चले आते हैं। दिन-भर पासे पलटती धूप में अपनी हड्डियों के दर्द सेंकते रहते हैं। कभी कोई अखबार बांचकर सुना देता है तो उसी पर घंटों चर्चा चल निकलती है।

आस-पास की दूकानों में मेहरू हलवाई का मुंडू चाय समोसे लिए भागता रहता है और इधर ये लोग वात विकार से लड़ने के किसी नायाब नुस्खे का चबेना चबाते रहते हैं। हां, इतना भी बहुत है कि बाबू दूकान पर चले जाते हैं तो कम-से-कम परिवार के एकमात्र पुरुष होने का अहसास उनकी कमर सीधी रखता है। कौन जाने किसी दिन उनकी ज़रूरत उन्हें उसके अबला-

पन को अनदेखा करने को विवश कर दे और उसे दूकान पर बैठने की अनुमति दे दें। आखिर कितनी ही लड़कियां दूकान संभालती हैं···इस छोटे से कस्बे में ना सही। बड़े शहरों में तो यह आम बात है। बेचारे बाबू कब तक बैंक में बचे कुछ हज़ार से घर चलाते रहेंगे? गुलकन्द बेचकर कब तक चलेगा? कितना लम्बा खींचेंगे अपना हठ?

दूकान में कुछ और सामान रख लें तो उर्मि बाबू की मदद कर सकती है। कम-से-कम घर में तो रह सकेगी। नौकरी मिल भी जाए तो क्या बाबू और बीजी को छोड़कर जा पाएगी? किसके भरोसे छोड़ेगी? नौकरी की तलाश तो एक भ्रम है। जैसे अभी कुछ उम्मीद बाकी है। और लड़के की तलाश···? वह भी धीरे-धीरे खत्म होने वाली है। चाल-चलन के प्रश्न के बाद अब एक और ज़रूरी प्रश्न आ जुड़ा है। क्या बाबू किसी से यह प्रश्न पूछ पाएंगे? "सुनिए··· लड़की के साथ उसके बूढ़े बीमार बाप और पागल मां को भी स्वीकार करेंगे आप?"

एक मसखरा ख्याल उर्मि को पल भर के लिए बहला जाता है···यही सवाल जब मणि भाई से पूछे गए होंगे तो वे सरासर झूठ बोल गए होंगे। बेचारे बाबू शायद जानते तक नहीं कि उनका यह सबसे योग्य और सूरमा दामाद जिसे पाकर वे भी धन्य हैं और उनकी बेटी भी, उनसे छुपकर सिगरेट भी पी लेता है और शराब भी···और···।

सबसे कठिन और असली सवाल तो अब उसको लेकर ही आ जुड़ा है। इसे झूठ बोलकर बाबूजी को फुसलाना बहुत कठिन है।

उर्मि कमीज़ के कालर को बारम्बार रगड़ रही है···कॉलर साफ हो तो सब ठीक है। जांचने वाली पहली नज़र तो वहीं जाकर टिकती है···अभी तो लड़का खोजा ही जा रहा है, मिला तो नहीं। पर मान लो मिल गया, तब? क्या बड़ी दीदी बाबू और बीजी को अपने साथ रखकर उसे अपनी गृहस्थी बसाने के लिए आज़ाद कर देंगी? या एक बार फिर वही कमीना सुझाव सब बहनों की ओर से रखा जाएगा, "दो दो महीने भी सबके पास रहें तो साल गुज़र जाएगा···" बाबू एक बार फिर छटपटाकर कहेंगें—"ना-ना···इससे तो गले में फंदा डालकर मर जाना बेहतर है···बेटियों के घर कुत्तों जैसी ज़िन्दगी!"

कमीज़ का कॉलर कसकर पकड़ लेती है उर्मि। वह फिर उन्हीं से पूछ रही है। उसे भ्रम हो आता है कि उसके हाथों के नीचे एक तनी हुई गरदन है···।

"क्यों मणि भाई, आपके पास तो कोई कमी नहीं। घर बार, नौकर-चाकर, गाड़ी··· सब कुछ है। विरोध करने वाला भी कोई नहीं। बाकी बहनें तो ससुराल वाली हैं। सास-ससुर की रोक-टोक है। उनके आगे जवाबदेह हैं। पर आप और मीना दीदी की स्थिति तो भिन्न है। मीना दीदी से शादी करती बार आपने ही तो कहा था, "मैं तो एक अनाथ की तरह मासी के यहां पला। मां-बाप ने बचपन में ही आंखें मूंद लीं। जो भी हूं, अपने बूते बना हूं। मेरे लिए तो आप ही मां-बाप हैं···।" मणि भाई, बारह लम्बे सालों में दाम्पत्य का सुख भी आपने जान लिया है। मेरे लिए क्या इतना भी नहीं करेंगे आप कि बीजी-बाबू को अपने साथ रखकर मुझ कुछ मुक्त कर दें? क्या आपको और दीदी को भी यही लगने लगा है कि आपकी ओर से जब तब मिले छोटे-मोटे उपहार, महीने में एकाध बार सिनेमा देख आने का निमन्त्रण,—या आप लोगों की संगति में बीती किसी खुली शाम का चुटकी भर सुख मेरे लिए पूरी उम्र काट देने के लिए काफी है? "···मणि भाई, क्या आप लोगों के इतने बड़े दायरे में उर्मि के लायक कोई भी मर्द नहीं मिला? या आप सचमुच उसके लिए अपने ही जैसा योग्य वर ढूंढ़ने में लगे रहे। और हुआ

यह कि आपको अपने जैसा कोई मिला ही नहीं ? कहीं ऐसा तो नहीं कि सब स्थिति का फायदा उठा रहे हों। सबसे बड़ी होकर भी दीदी बाकी सारी जिम्मेदारी से मुक्त हैं। बाबू की लाचारी उन्हें धीरे-धीरे पीछे ओट में धकेल रही है··· और मुख्य दायित्व उनके बाद आप पर आता है···। हमारे परिवार के दायित्व के साथ आपको कुछ बड़प्पन भी तो मिलता है ना ?···

उर्मि को लगता है वह बड़ी बहिन और मणि भाई के प्रति नाहक निर्मम हो रही है। वे ही क्यों बाकी तीन बहनें भी तो यही चाहती हैं। उर्मि है तो, वे भी बाबू-बीजी की ओर से निश्चित हैं। रही शुभा, स्वयं बचकर वह शुभा से अपनी नियति बदल सकती है। वह है तो उसके लिए एक अवसर है। वरना अन्त में तो वही बचेगी। परन्तु बाबू के उस भरोसे का क्या होगा···? अब तो वे भी उससे पहले शुभा के लिए लड़का ढूंढ़ने के लिए राजी हो गए हैं। वरना एक ही तर्क रहता था, "पहले बड़ी की डोली उठेगी फिर छोटी की बारी।"

उसे अब भी लड़का मिल सकता है। वह उससे चार वर्ष छोटी है। उसने तो अभी बेटे की जगह नहीं ली है।

शुभा कम से कम हर रोज़ इस कोठरी से निकलकर बाहर जाती तो है, कुछ हंसती है—खिलखिलाती है। हर रोज कपड़े बदलती है। बनती-संवरती हैं। हां कौन था वह जो उस पार्टी वाले दिन उसे दरवाज़े तक छोड़ गया था ? मैंने बाथरूम की झिरियों से खुद देखा था। पूछा तो कहती थी—"अविनाश गुप्ता थे।" उसके स्कूल के प्रिंसिपल।—दरवाजा बन्द करने से पहले शुभा ने कितनी मीठी हंसी हंसी थी, और उसने कहा था—"सी यू टूमोरो।" तो शुभा कल की इन्तज़ार करती होगी।

जब वह हर सुबह कहीं खोयी-सी अपनी लम्बी चोटी गूंथ रही होती तो उर्मि का ध्यान बार-बार उससे उलझने लगता। नज़र कनखियों से उसे टोहती रहती। आज तो रहा ही नहीं गया, बस पूछ बैठी, "शुभा, क्या सोच रही है इस तरह गुमसुम ?"

शुभा के हाथों से हडबड़ाकर चोटी, गूंथने की जगह खुल गई थी।

"कुछ भी तो नहीं, दीदी।"

"क्या सचमुच उसने यह कहा था ?"

"किसने ? क्या कहा था ?"

"तुम्हारे प्रिंसिपल ने कि तुम इतनी चुपचाप, इतनी उदास क्यों रहती हो ?"

"इससे क्या होती है दीदी ?"

"वह शादीशुदा है क्या ?"

"पता नहीं।"

"झूठी—तुझे ज़रूर मालूम है।"

"तुम स्वयं क्यों नहीं पूछ लेती दीदी ?"

"मैं ? मैं यह पूछने जाऊं ? मुझे तो इसी आंगन में मंडराना है शुभा···अरे हां, तू हर दूसरे रोज़ यह पीला सूट क्यों पहन लेती है ?"

"यूं ही।"

"मैं सब समझती हूं, ज़रूर उसने कहा होगा—"यलो सूटस यू सो वैल।"

···और शुभा के मन में गुस्से की जगह एक तरस-सा उमड़ा था। उर्मि के गले में बांहें डालकर बोली थी, "दीदी, तुम्हें मेरे भाग्य से डाह हो रही है ? अविनाश शादी-शुदा है। दो

बेटे भी हैं। पत्नी बैंक में काम करती है। जो कुछ कहा भी हो तो उससे क्या होता है? शादी तो होने से रही। मैं तुम्हें अकेला छोड़कर कहीं नहीं जाऊंगी। प्रॉमिज़···अरे हां, लेट हो रही हूं। तुम्हारी पीली जयपुरी चुन्नी पहन लूं, जो तुम्हें इस बार मणि भाई ने तुम्हारे जन्म दिन पर दी थी?"

शुभा चुन्नी पहन कर चली गई थी···। उर्मि ने तो अभी पहन कर भी नहीं देखी थी। पहन कर जाना ही कहां होता है? उसके हिस्से फिर बची रह गयी थी—वही कसती हुई कसकती सोच। शुभा सब जानती है। हो सकता है उसे मणि भाई से शिकायत हो? वे उर्मि के अलावा उसके भी तो हीरो हो सकते हैं। पर क्या शुभा भी उसके प्रति इतनी अनुदार हो जाएगी? कल से तो वैसे भी उनसे चिढ़ी हुई है। हुआ यह था कि मणि भाई अपनी स्वैटर के लिए ऊन लाए थे, "मुझे पन्द्रह दिन में स्वैटर तैयार चाहिए।"

"मैं दस दिन में बुन दूंगी, मणि भाई," शुभा बोली थी।

वे उसे अनसुना करके उर्मि की तरफ देखते हुए बोले थे, "तुम बनाकर नहीं दोगी क्या उर्मि?"

उर्मि ने देखा वह लगातार कमीज़ को निचोड़ रही है। कितनी सलवटें पड़ गईं। उन्हें तो एकदम ठीक-ठाक इस्त्री किए कपड़े चाहिएं। उसने फिर उसे पानी में डुबो दिया।

उसे याद आते हैं बड़ी दीदी के विवाह के दिन। पांचों बहनों के लिए एक अनूठा अनुभव था वह। मणि भाई उनकी घुटन भरी ज़िन्दगी में एक खिड़की की तरह खुले थे। सिर्फ लड़कियों का परिवार और ऊपर से रोक-टोक भरे कड़े अनुशासन से जकड़ा वातावरण। पिता के रूप में जिस पुरुष को जाना था वह अत्यन्त लाचार, निरीह और पराजित-सा था। ज़िन्दगी के प्रति केवल कड़वाहट से आकंठ भरा हुआ। मणि भाई उनके ठीक विपरीत···युवा, उत्साही और आत्मविश्वास से भरपूर। पहली बार चिड़ियों के उस गलियारे में भरपूर हंसी के ठहाके गूंजे थे। पुरुषों की दुनिया कैसी होती है। उनकी रुचियां, उनकी आदतें उनकी पसन्द···यह सब उन्होंने मणि भाई के माध्यम से ही जाना था। उनकी रंग-बिरंगी कमीजों पर इस्त्री करने के लिए वह आपस में झगड़ तक पड़ती थीं। रात गए पांचों उनकी चर्चा करतीं। वे एक ताज़ा हवा के झोंके की तरह थे। वे खुलकर गहरे सांस ले रही थीं। वे सिर्फ उर्मि के नहीं, सबके हीरो थे।

फिर एक-दो-तीन-चार सब बहनें विदा हुईं। बस उर्मि तक आते-आते सब बदल गया। सारे यत्न थक से गए। बीजी-बाबू, सबका सामर्थ्य चुक गया है। घर में सबके रोल देखते ही देखते बदल गये।

उर्मि एक फीकी हंसी हंस कर कमीज़ को खंखालने लगती है···बाबू पता नहीं आज कहां रह गए होंगे। ज़रूर डिप्टी कमिश्नर के दफ्तर गए होंगे। उन पर आजकल यही एक धुन सवार है। आज़ादी की लड़ाई और देश के बंटवारे के हो-हल्ले में कहीं दो महीने जेल में रहे थे बाबू। दोस्तों ने वहां से सर्टिफिकेट दिलवा दिया है। अब कहीं उन्हें स्वतन्त्रता सेनानी होने का प्रमाण-पत्र मिल जाए तो सबके लिए बहुत कुछ हो सकता है। बाबू को आजीवन पेंशन, दूसरी कई सुविधाएं और सबसे बढ़कर उर्मि और शुभा को स्वाधीनता सेनानी की संतान होने के एवज में नौकरी। बाबू के कारावास को किसी दबे हुए धन की तरह इस्तेमाल कर पाने की बात से न जाने क्यों उर्मि आत्मदया की एक अनुभूति में पसीज-सी गई है।

उर्मि स्वयं मुक्त होने के लिए लड़ रही है। पर यह मुक्ति कैसी, किससे? शायद उस

दिन भीतर वाली कोठरी में बीजी का पागल प्रलाप सदा के लिए मौन हो जाएगा। बाबू के गड़-बड़ाए हुए दिल की धड़कन सहसा गुम हो जाएगी। और उर्मि अन्त में मुक्त। कुछ भी करने के लिए आज़ाद।···

वह अपने लिए विकल्प ढूंढ़ने लगती है। हो सकता है किसी स्कूल में नौकरी पा जाए। कंधे पर थैला लटकाए उर्मि लौटेगी। इस पुराने से जर्जर दरवाजे का ताला खोलेगी। चारों दीवारों से झरती हुई पीली मिट्टी की तरह भाँय-भांय सन्नाटा उसकी ओर लपकेगा। छुट्टियों में बहनें अपने बच्चों को इधर भेज दिया करेंगी, "जाओ छुट्टियां मौसी के पास काट आओ··· बेचारी अकेला महसूस करती होगी।" मीना दीदी भी शायद कहे, "उर्मि, विकी-अनु को तुम्हारे पास छोड़ जाऊं? जब से नई गाड़ी ली है, घूमने का मौका ही नहीं मिला।" फिर उर्मि आंगन के उस कोने में बना तंदूर सुलगाएगी। दोपहर भर रोटियां सेंकेगी। मासी बनाम बिना दाम की आया। हुंह···, उर्मि मुंह में भर आया कुछ कसैला-सा एक ओर थूक देती है।

हो सकता है अग्रवाल लोगों की महाराजिन घर के चक्कर लगाने लगे, "मान जा बिटिया। बस, तू हां भर कह दे। बहुत भला आदमी है मनोहर। ज़रूरतमन्द है। नहीं तो उसे क्या कमी थी। बीवी की मौत के बाद पन्द्रह साल तो यूं ही काट दिए। अब बेटी-बेटा ब्याह दिए तो निपट अकेला पड़ गया है। बेचारा तुम्हें बड़े जतन से रखेगा बिटिया।"

उर्मि फिर सोचती रह जाती है, बाबू, जो हंफनी-सी हांफती सांस में पुत्तर-पुत्तर पुकारते मेरा हाथ ढूंढ़ते रहते हैं। टुकर-टुकर छत ताककर मुझसे मूक-सी अनुनय करते हैं, "इस घर की दीवारों को नंगी मत होने देना···मेरी तरह ढके रखना पुत्तर।"

बाबू ने मुझे पांच बहिनों के एकमात्र भाई होने का अनूठा अधिकार दिया है। यह मुझे जन्म से नहीं मिला···यही मेरी अपनी कमाई है।

कल जब मणि भाई आएंगे तो धुली हुई कड़क कमीज उनके हाथों में थमाते हुए उर्मि कहेगी, "अब मेरे योग्य वर सच ही कहीं नहीं मिलेगा मणि भाई, तलाश का यह भ्रम तोड़ डालिए।"

उर्मि के भीतर कुछ तमतमाने लगता है। वह बाल्टी का सारा पानी लुढ़का देती है और उसे बहता देखती रहती है। धीरे-धीरे सब बह जाता है। सिर्फ टपकती हुई कमीज उसके हाथ में है।

[27/1 बालूगंज, शिमला-171005]

छठा मेज

□ श्रीनिवास जोशी

"पांच मेज पहले ही लगे हुए हैं। अब छठा कहां घुसेड़ रहा है ?" खेड़ा ने रामदास पर जुबान चलाई।

"ऊपर से हुकुम हुआ है। लाओ, लाओ, यहां रख दो !" कुलियों को रामदास ने आदेश दिया।

"कमरे में हमने बैठना है कि हुकुम देने वालों ने ! चल, बाहर कर इसे।" बिना स्पेस दिए खेड़ा बोलते गए।

रामदास उस टाईपराईटर की तरह हुकुम निभाने में अड़ा रहा जिसका रोलर खिसकता ही न हो। "ले आओ अन्दर मेज़ को," खेड़ा बिना इस्त्री की, कई दिनों से न घुली हुई कमीज की बखियों के बाहर होने लगे, "मैं कह रहा हूं यहां जगह ही नहीं है ! तूं मेज नूं अन्दर करवाए जा रहा है। यहां मित्तर-शित्तर आ जाएं तो जांघ पर बैठना पड़ता है। अब मेज को हमारे सिर पर रखना है क्या ? बाहर कर, नहीं तो माचिस दिखा दूंगा !" रामदास भी तू-तड़ाक पर उतर आया, "तू जाने और जाने सुपरडैन्ट। रहने दो बे मेज यहीं। ऊपर से जब डंडा आएगा तो इसके खोपड़े से बड़ी जगह निकल जाएगी अपने आप। चलो।"

खेड़ा "तेरी तो···" के बाद ऐसे अटक गए मानो डॉट···डॉट···डॉट···पर ही उंगली चल रही हो। रामदास मेज कमरे के दरवाजे के पास छोड़ कुलियों को वापस लेकर चला गया।

इस घटना से टाईप ब्रांच के हमारे मन्द जीवन में कुछ रोचकता आई थी, वरना टप-टप-टप टाईप की आवाज़ हमारी नाड़ियों का श्वास और रोलरों में चढ़ते उतरते कागज, हमारी धमनियों का लहू थे। मैं इस ब्रांच में दामोदर का नाम लेकर वरिष्ठता में पांचवा टाईपिस्ट बनकर आया था। खेड़ा जो वरिष्ठतम था, हर सवेरे "दामोदर ! ले अपणी फाईलां," कहकर मुझे दिन का काम दे देता था। कभी-कभी सुपरडैन्ट "टाईपिस्ट को बुलाओ" कहते, तो मैं चला जाता था। दफ्तर के गलियारों में घूमते बाबू "टाईपिस्ट साहेब। क्या हाल हैं ?" कहकर मेरी कुशल क्षेम ले लिया करते थे। मेरा मां-बाप का दिया नाम इन दो सालों में घटिया मेक के टाईपराईटर के अक्षरों की भांति घिस चुका था। मैं या तो दमोदर था या और साथियों की तरह पदनाम बन चुका था। टाईपराईटर के और मेरे जीवन में भी कोई अधिक फर्क नहीं था। उसे पांच बजे खोल उढ़ा दिया जाता था, जो वक्त ने कई जगह से उधेड़ दिया था। मुझे घर पहुंचते ही खोल से बाहर होना पड़ता था—दाल छोंकने और रोटी सैंकने के लिए। मशीनी

जीवन—दस बजे आओ—टाईपराईटर माफ़ करो—कागज़ चढ़ाओ—टप-टप-टप, ग्यारह बजे चाय पिओ—डेढ़ से दो, बेमतलब भूखा लंच मनाओ—साढ़े तीन फिर चाय पिओ और शाम पांच बजे के बाद चार सौ रुपए महीने के किराए पर लिए भद्दे, भौंड़े, अंधेरे कमरे में साठ वाट के बल्ब के नीचे दाल रोटी बनाओ और अगली सुबह लोहा कूटने के लिए तरोताजा होने को सो जाओ। कुछ ऊपर-नीचे रहा होगा, हम सब का हाल ऐसा-जैसा ही था। हम सब आदमी से टाईपिस्ट बने थे और धीरे-धीरे टाईपराईटर बनते जा रहे थे।

इस छठे मेज ने अचानक आकर हमारे मेटामोरफोसिस पर रोक लगाई थी। खेड़ा घोंघे की भांति सिकुड़ कर अपनी कमीज में सिमट चुके थे पर ऊपर से अभी भी दबंग बने हुए थे, "देख लेंगे, देख लेंगे। की कैंदा हैं सुपरडैन्ट? भई, अपने कमरे में लगा ले तूं मेज। यह क्या बात हुई? ओहदा बड़ा तो कमरा भी बड़ा, मेज भी बड़ा, आदमी भी कम, ओ, एद्दर जगा कां है।" दो नंबर के टाईपिस्ट ने डिटो मारा, "आप ठीक कह रहे हो खेड़ा साहेब। ऊपर काम-धाम तो है नहीं। जितना फरनींचर निकल सके पहुंचा दो टाईप ब्रांच में ताकि उनका कमरा चौड़ा दिखे। टाईप ब्रांच कोई स्टोर है, बताओ खेड़ा साहेब?" तीन नम्बर के टाईपिस्ट ने कहा, "हमारी सुविधा का ध्यान तो आपने देना है। नहीं आने देना खेड़ा जी, इस मेज को अन्दर!"

खेड़ा की वरिष्ठता मुखर हो उठी, "कोई खालाजी दा बाड़ा है—जो मर्जी घुसा देओ। ऐसी सुनाऊंगा सुपरडैन्ट को कि ए० एस० डी० एफ० जी० भूल जायेगा। तुम लोग तो मेरे नाल हो न!" सिर्फ दो ने 'बिल्कुल' और 'सोलह आने' जैसे शब्द दबे स्वर में कहे। मैं चुप था। टाईप करते जैसे टाईपराईटर उछल गया हो—खेड़ा उचक कर बोले, "ओए तूं बता दमोद्दर। तेरी भी कोई राय है या नीं?"

कनिष्ठतम होने के कारण मैं अधिकतर हंसता रहता था और 'ठीक है, ठीक है' कहता था। वक्त था कि उसी फार्मूले का प्रयोग करूं—टप-टप-टप—मैंने टीप दिया, "मेरी...मेरी क्या राय हो सकती है। जो आप लोग कह रहे हैं, ठीक ही है।"

सबने संतोष की सांस ली। मैं उनके क्षेत्राधिकार में घुसपैठिया नहीं बना था। तुरन्त ही खेड़ा का बिल्कुल निजी निर्णय, पंचों का फैसला बन गया—"छठा मेज अन्दर नहीं आएगा, चाहे तो सुपरडैन्ट अपने कमरे में लगा लें।"

उतने में रामदास ने दरवाजे से ही हांक-सी लगा दी, 'सुपरडैन्ट ने बुलाया है ऊपर,' और मुड़ चला। खेड़ा पांच मेजों के बीच की संकरी गली को तेजी से पार करते दरवाजे पर रखे छठे मेज से जब टकराए तो उसे मां-बहिन के विशेषणों से विभूषित करते चोट खाए स्वर में बड़ी हलीमी से पुकारने लगे, "रामदास जी, ओ रामदास जी! सुन तो लो! हमारी थ्वाडी क्या दुश्मनी? आओ, रामदासजी।" "बोलो", रामदास का एक शब्द उसके प्राधिकार को जता रहा था। "चाए पलाए बगैर थोड़ी जाण देना आपको। दमोद्दर, तूं चाए ले आ और सुन मिट्ठा तेज। क्यों रामदास जी?" खेड़ा तेल डाली मशीन की तरह नरम हो चुके थे। "रामदासजी! तुस्सी मेरी कुर्सी पर बैठो, मैं मेज च बैठूंगा," रामदास ने खेड़ा को ऐसे घूरा मानो वह पुरानी की जगह नए मॉडल की मशीन हो। खेड़ा ने मेरे कमरे में दाखिल होते ही हाथ से गिलास छिना और अपनी हथेली की बनाई तश्तरी पर चाए का गिलास रामदास की ओर बढ़ा दिया। अनावश्यक होते हुये भी बात अक्षर 'न' से शुरू करते तेल की कुप्पी से बूंद-बूंद-सी टपका दी, "न, सुपरडैन्ट साहेब का मूड कैसा है?"

गिलास से जोर की सुड़प लगाते हुए रामदास बोला, "कैसा होता है मूड ?डिप्टी से डांट खाई है तो मूड तो खराब होगा ही !" डिप्टी से डांट पड़ी जीं। थ्वानू कैसे पता चला जी ?" खेड़ा ने पूछा। "सी० आई० डी० रखते हैं हम भी। डांट खा के लौटा तो पैन तो रखा था जेब में, और लगा हुआ था दराजों में ढूंढ़ने ! खरी पड़ गई होनी है आज।" रामदास ने लम्बा घूंट भरा।

मैं टाईप करने लगा। खेड़ा ने घुड़क दिया, "अबे चुप। यहां नेगोशिएसन्ज चल रही है और तू टप-टप-टप लगा रहा है !" रामदास को मुखातिब हो वाक्य को फिर 'न' से शुरू किया, "न, आपने क्या कहा था ? मेरा नाम तो नहीं लगाया था न, अब तुसी देखो रामदासजी, हमारी और थ्वाडी सिनियोरिटी तो एक सी है न ! साथ ही आए हम दोनों नौकरी पर और फिर मैंने कोई ऊंची बात तो कही नहीं थी।" खेड़ा मानो ग़लत कटे स्टैन्सिल पर फ्लूइड लगा रहे थे।

सीनियोरिटी की बात ने रामदास के फेफड़ों में कुछ ज्यादा हवा भर दी थी इसलिए वह अपने नीले ब्लेज़र के मैले जोधपुरी का तीसरा बटन खोलने को आतुर हुआ पर बटन नदारद था और बक्सुए ने वह स्थान ग्रहण कर रखा था। अतः हाथ बिना काम किए वापस लौट आया। कर्णभेदी अन्तिम सुड़प के साथ रामदासजी अपने सरकारी जूतों के भीतर खड़े हो गये और बोले, "ठीक है, ठीक है—किसी को भेज दो !"

इस पर खेड़ा ऐसे प्रसन्न हुए मानो टाईप के लिए 'रनिंग मैटर' मिल गया हो और बोले, "जा ओए दमोद्र। सुपरडैन्ट से मिल ले।"

"लेकिन···मैं···तो···मैंने···तो···कुछ···कहा नहीं···और मैंने···दाढ़ी···भी नहीं बनाई है···कमीज भी मैली है।" मेरे शब्द उस नौसिखिए टाईपिस्ट की भांति निकले जो अक्षरों को ढूंढ़-ढूंढ़ कर टाईप करता है।

"लड़की देखने जा रहा है या उस गंजे से बात करने। चल फुट।" खेड़ा ने आदेश दिया। दो नम्बर के टाईपिस्ट, जो खेड़ा की हर बात की कार्बन कॉपी पेश कर देते थे, बोले, "अब इधर-उधर क्या ताक रहा है, जैसे तेरा इरेजर खो गया हो ! जा, सुपरडैन्ट से मिल के आ और पंचों की राय सुना दे।"

मेरे बाहर निकलने से पूर्व खेड़ा ने अन्तिम निर्देश दिए, "ज़रा कैपिटल्ज में रहना, कहीं स्माल लेटर्ज़ में ही बात कर आए !"

सुपरडैन्ट ने मुझे देखते ही जो बात शुरू की वह मुझे ऐसे लगी जैसे ऊपर टाईप किया हुआ हो।

"पिछले पृष्ठ से"—"एडजस्टमेंट की बात है, टाईपिस्ट साहेब। एक मेज ही तो है, कहीं लगा लो।"

"सर, वहां। स्पेस कम है···"

"अरे टाईपिस्ट साहेब, यही तो तुम लोगों की खासियत है। कम स्पेस में भी किस खूब-सूरती से शब्दों को समा लेते हो, और यह तो एक मेज ही है, एडजस्ट कर लो इसे।"

"सर। वह खेड़ा साहेब भी···"

"अरे छोड़ो। क्या खेड़ा ? क्या बखेड़ा ? कठिनाई हुई तो फिर देख लेंगे। प्लीज डू इट ! जाओ !"

मैं अप्रषित पत्र-सा वापस पहुंचा तो सबसे पहले खेड़ा ने ताना कसा, "उछल गई न मशीन।"

दो नम्बर के बोले, "इस धुंधले रिब्बन से और आशा भी क्या थी ?"

सब मुझे ऐसे घूरने लगे जैसे मैं त्रुटियों से भरा पांच शब्द प्रति मिनट की गति से टाईप किया गया पत्र हूं। मैं, हतोत्साहित-अपनी कुर्सी में बैठ गया।

तभी रामदास ने दरवाजा खोला, "क्यों, हो गई बात ? लगवा दूं मेज़।"

"आखिर यह मेज़ यहां लग क्यों रहा है ?" महत्वपूर्ण प्रश्न मन्त्रीमंडल के लिए तैयार किए गए ज्ञापन के 'विचारार्थ मुद्दे' की भान्ति सबसे बाद में उठाया गया।

"एक लड़की टाईपिस्ट की भर्ती हुई है, उसने बैठना है," रामदास ने ज़ाहिर किया।

हम सब खिल उठे, ग़ज़ब की फुर्ती से कमरे की मेज़-कुर्सियां इधर-उधर हुईं और खेड़ा की सुविधानुसार छठा मेज उनके मेज़ के साथ लगा दिया गया।

"लो जी। रामदास जी। सुपरडैन्ट साहेब का आदेश सर-आखां पे," खेड़ा ने कहा।

"कब आ रही है ?"

"कल ग्यारह बजे।"

"नाम मालूम है ?"

"नीलम बोलते हैं।"

"कैसी दिखती है ?"

"देखी नहीं।"

प्रश्नोत्तरी शैली की इस प्रस्तुति के बाद रामदास बाहर हो लिया। और अन्दर हो गई उथल-पुथल। मैंने उसी शाम सौ रुपये के उधार का प्रबन्ध कर लिया। नई कमीज खरीदी। एक खुशबूदार क्रीम की शीशी भी ली। रात नींद आई नहीं और जब आई तो नीलम भी साथ आई। नीलम, जिसे मैंने कल्पना में रच लिया था।

सवेरे जूते में पॉलिश की, पेंट की क्रीज़ निकाली, नई कमीज पहनी, दाढ़ी बनाई और दफ्तर को चल दिया। मरुस्थल-सा लगने वाला स्थान आज फूलों की घाटी जान पड़ रहा था।

हम सब आज दस मिनट पहले ही पहुंच गए थे—उजले, धुले, एक नई उमंग में, बेहतर इन्सान।

खेड़ा ने सबको ग़ौर से देखा, "बड़ छैला बने हो—द्रौपदी आ रही है क्या ?" एक ठहाके के साथ ऐसा लगा कि अर्से बाद हम टाईपराईटरों से बाहर आए थे।

घड़ी सुस्त चल रही थी। ग्यारह बजने में ही नहीं आ रहे थे। हमने आज समाचारपत्रों की सुर्खियों पर बात कर ली। इंग्लैंड में खेले जाने वाल क्रिकेट मैच के बारे में भी चर्चा रही। एक-दूसरे के कपड़ों को सराहा। यह भी सोचा गया कि दिन का लंच कल से यहीं कमरे में साथ बैठकर खाया जाए। दीवार पर एक पोस्टर भी चिपका दिया गया। आज सब कुछ नया-नया लग रहा था कि दरवाजे में खट-खट हुई। दिल की धुकधुकी के साथ अदृश्य मालाएं हमारे हाथों में आ गईं। रामदास आदेश देता दाखिल हुआ, "उठाओ, यह मेज। हमारे चेहरे पढ़े बगैर ही उसने कहा, सुपरडैन्ट साहब ने तुम्हारी मान ली। यहां जगह की दिक्क़त है। मैंने भी सुझाया था उन्हें !" छठा मेज़ चला गया। फिर मारजिन फिक्स और टप-टप-टप······

[पंचवटी, भराड़ी-शिमला-171001]

दूसरी औरत

☐ राजीव ई॰ सिंह

गिल्लू तो गोद लिया हुआ था।

वे दोनों लैट्रीन के दरवाज़े से पिछवाड़े निकल आते थे। वहां अमरूद का चिकना पेड़ शीशम और एक जंगली पीले फूल वाले पेड़ के बीच में खड़ा था। उस दायरे में एक पुरानी क्यारी थी, जिसके चारों ओर बाबा आदम के ज़माने की औंधी ईंटें गड़ी थीं। नई घास उगने पर वहां अजीब भुस-भुसाह भर जाती थी। कोने में टीन का छप्पर है, जिसके नीचे रेत, डंडे, फट्टे, पुराना कबाड़ पड़ा है। दूसरी ओर कमज़ोर तख्तों का घर बना था—शायद किसी कुत्ते के लिए ही।

गिल्लू और बंटी को यहां खेलने की मनाही है, क्योंकि कीड़े-मकोड़े का यहां बहुत डर है। फिर भी गिल्लू घड़ी को देखता और बंटी खिड़की से झांककर, और दोनों लैट्रीन के दरवाज़े से यहां आ जाते हैं। यहां एक दुनिया है। इस दुनिया में सिर्फ दो छोटे लड़के ही नहीं रहते और खेलते, बल्कि रेत में गड़े पत्थर के आदमी, बोतलों की औरतें, सूखी डंडियों के पेड़, माचिस की डिब्बियों की गाड़ियां, (जो उन आदमी और औरतों के हिसाब से बहुत छोटी पड़ती हैं) एक पुरानी भूरी ईंट है जिसे वे कभी-कभी ही रेत पर घसीटते हुए आगे लाते हैं, और भरे हुए आदमी को उस पर लिटाकर कहीं ले जाते हैं। किसी आदमी को गाड़ दिया जाता है और किसी को फेंक दिया जाता है। शायद यह उनके समाज का नियम ही हो!

इनके पास एक सचमुच की खिलौना कार भी है, जिसे बंटी के मामा ने अमेरिका से उसके जन्म दिन का तोहफा भेजा है। कार खराब हो चुकी है। इसलिए वह उसे रेत की सड़क पर भी घसीटने के लिए ले आता है। गिल्लू इस कार को इतना महत्त्व नहीं देता, क्योंकि अनबन हो जाने पर बंटी ने पहले दो-एक बार उस पर अपना एकाधिकार जमाया है।

इनके पास कुछ और सामान भी है—बोतल के ढक्कन, धागे की जो गोट, जो रबड़, मोम, कील और लकड़ी के फिट होने पर चलती है। दो गोल पहिए, जिन्हें पास के किवाड़ से निकाला गया है। छुटपुट सामान के अलावा जो मुख्य है वह है उनका टेलीफोन। यह माचिस की डिब्बियों का बनाया गया है। हांलाकि दोनों की बातें वैसे भी सुनाई पड़ती हैं, पर फोन आखिर फोन होता है। संकट में आग लग जाने पर फोन पर ही बात होती है। भूरी ईंट एम्बूलैंस भी है, फायर ब्रिगेड भी और म्यूनिसिपैलटी का छकड़ा भी।

दोनों यहां आते हैं, तो किसी भी अनिश्चित दिशा के खड़के को सुनकर चौंक जाते हैं। दोनों एक-दूसरे पर बात टालते हैं—

"जा तू देखकर आ।" एक कहता।

"मैं नहीं, तू जा।" दूसरा कहता।

बात एक तरफ हो जाती। अगर मम्मी आ गई होती तो दोनों उल्टे पैर दाईं तरफ गेट से निकलकर घर के सामने हो लेते। इस तरह न मम्मी को शक होता था और न ही डांट पड़ती थी।

यह सच है कि गिल्लू स्कूल से लौटते समय जानकी के लड़के से लड़ा था। परन्तु दूसरे दिन मम्मी ने उसे बुलाकर आधे क्रोध और आधे प्यार से पूछा, "गिल्लू तुम जानकी के लड़के से लड़े थे कल ?"

गिल्लू उलझ गया कि क्या कहे। छोटा-सा डर उसे खींचने लगा। उसे लगा कि सच कहने पर मम्मी बहुत गुस्सा करेंगी, और इसीलिए उसने क्षण-भर में निर्णय ले डाला, "नहीं मम्मी, मैं नहीं लड़ा था।"

मम्मी का क्रोध उछल पड़ा। उन्होंने कुछ गुस्सा जताते हुए पूछा, "तुम सच कह रहे हो ?"

वह दृढ़ रहा, "मम्मी मैं नहीं लड़ा, आप सुरेश से पूछ लेना चाहे।"

"सुरेश से क्यों, बंटी ने तुझे देखा। तूने पहले आगे होकर उसके पांव में डंडा मारा।"

बंटी और गिल्लू की निगाहें बिजली की तरह मिलीं। गिल्लू अपने अन्दर कांप गया। उसे नहीं पता था कि बंटी ने उसे लड़ते देखा था, और न ही उसने बंटी को इस बारे में कुछ बताया था। यह बात भी नहीं कि बंटी ने मम्मी को यह सब बताया हो। यह तो जानकी ही गिल्लू की शिकायत लेकर उनके घर आई थी, तब बंटी भी वहीं था, तभी मम्मी के बंटी से पूछे जाने पर उसने एक सांस में कह डाला था, "हां मम्मी गिल्लू दो-तीन लड़कों के साथ चौक में इनके लड़के तो तंग कर रहा था। मम्मी वह कुछ बोल रहा था तो ये सब उसका बस्ता खींलते थे। फिर बाद में गिल्लू ने उसके पांव में डंडा भी मारा था।"

मम्मी जानकी के सामने अपराधिनी-सी क्षमा ही मांग सकी थी।

गिल्लू मम्मी के स्वर में उठते क्रोध को देखकर सिहर उठा। लेकिन अब जो झूठ कह दिया, उसे वैसा ही बनाए रखने में वह अपने को सुरक्षित समझने लगा। बोला, "मम्मी मैंने नहीं, सुरेश ने डंडा मारा था उसको।"

मम्मी अब की चीख-सी पड़ी, मैं सुरेश की नहीं, तेरी बात कर रही हूं। कहो, तुमने उसे पहले डंडा मारा कि नहीं, बोलो !"

"नहीं !" उसने सिर भी हिला दिया।

मम्मी ने 'तपाक' से हथेली उसके गाल पर छाप-सी दी। उसका गाल झन्ना गया।

मम्मी का क्रोध डगमगाते कगार पर झूलने लगा। वह उठीं और जाने से पहले कह गईं, "चलो बंटी, इसके साथ कोई बात नहीं करेगा। यही इसकी सज़ा है। पापा को भी मना करेंगे कि वे भी इससे बात न करें, चलो।"

बंटी मम्मी के साथ चला गया। गिल्लू की पुतलियो में झिल्ली तैर आई, हर अक्स धुंधला होता चला गया। उसे अपने आपे पर पछतावा हुआ कि सच कहता तो शायद मम्मी मारती नहीं। अब क्या पता शाम को पापा भी गुस्सा करें ? वह सिमट गया, बिल्कुल अपने आंसू की तरह।

रात को गिल्लू को खाना न देने की बात टल गई। मम्मी थोड़ा पछताई कि उसे इतने जोर से नहीं मारना चाहिए था, पर क्या करती, हाथ किसी ज़िद्दी बच्चे की तरह उसके गाल तक छपक गया था। मम्मी ने देखा कि शायद वह रोता-रोता सो गया है। वह उसके पास गईं। उसके सूने चेहरे पर उदासी की सुस्त पपड़ी जमी हुई थी। उन्होंने उसे बगल में हाथ डालकर बिस्तर पर बैठा-सा दिया। वह मम्मी को ताकने लगा, मानो बिना कहे वह अपने रूठने की बात कह देना चाहता है। मम्मी ने उसके बिखरे बालों में उंगलियां उलझा दीं। वह चुप रहा। छोटा-सा डर अभी भी उसमें कहीं छिपा बैठा था। पहले तो मम्मी ने उसे आंखों से पुचकारा, फिर कहा "चल खाना खा ले।"

वह चुप रहा।

"मम्मी से गुस्सा है अभी तक?"

वह अब भी कुछ न बोला। पलकों में नींद लिए लेटने को हुआ।

मम्मी ने सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "देख बच्चे ऐसा नहीं करते। उसके ज्यादा लग जाती तो? और देखो झूठ बिल्कुल नहीं बोलते। नहीं तो लोग क्या कहेंगे कि आपका लड़का लड़ता है और झूठ भी बोलता है।" वह कुछ देर उसे निहारती रही, फिर बोली, "मम्मी का प्यारा बेटा, अब कभी झूठ मत बोलना; और लड़ना भी नहीं। मम्मी का कहना मानोगे न? शाबाश, आ जा मेरे पास, खाना खाएं चलकर।"

गिल्लू ने मम्मी की बांह पकड़ते हुए, उसकी बात को मानने के लिए सिर 'हां' में हिलाया और उनकी गोदी चढ़ गया।

फिर एक खेल की शाम थी। रेत में गड़े हुए पत्थर के आदमी थे। ईंट की गाड़ी थी। माचिस की डिब्बियों वाला टेलीफोन था। बोतल, धागा, गोट, मोम वग़ैरह-वग़ैरह...। आदमी मरता तो उसे गाड़ी में डालकर फेंक दिया जाता। थोड़ी देर बाद फोन आता कि फलां-फलां जगह आग लग गई है। रेत पर घिसटती हुई भूरी ईंट पूरे ज़ोरों पर आती। कभी ऐसा भी होता कि वे आग को बुझाने की कल्पना में झाड़ियों पर पेशाब कर देते। फिर गाड़ी अपनी जगह चली जाती। जब उनकी गाड़ियां खराब हो जातीं, तो रेत में पैर गाड़कर खोखल बनाते और खराब गाड़ियां उनमें घुसेड़ देते। कुछ समय बाद गाड़ी वहां से निकाल ली जाती—एक दम फिट्ट।

खेल चल रहा था। पत्थर के आदमी उन्हें देख रहे थे। गाड़ी को बीच रास्ते में रोक दिया गया। बंटी ने गिल्लू की निगाहों में कुछ देखकर ढूंढ़ने की कोशिश करी, फिर कहा, "गिल्लू एक चीज़ दिखाऊं तेरे को?"

गिल्लू उत्सुक हुआ, "हां दिखा।"

"तू मेरी शिकायत कर देगा।" उसने कहा।

"नहीं लगाऊंगा।" उसने आश्वासन दिया।

बंटी ने जेब से एक तहों में लिपटा हुआ मुचड़ा-सा कागज का टुकड़ा निकाला। उसकी ओर बढ़ाते हुए उसे खोलने लगा। गिल्लू दो पल आंखें स्थिर किए हुए देखता रहा। फिर दोनों ने एक-दूसरे को देखा। एक शर्मीली-सी हंसी वे हंसे।

"तुझे कहां से मिली?" गिल्लू ने पूछा।

"हमारी क्लास में एक लड़का लाया था। पूरी क्लास को दिखाई हमने।"

यह एक विदेशी स्त्री का अर्द्ध नग्न चित्र था, जो शायद किसी मैग्ज़ीन से फाड़ा गया था। गिल्लू की बहुत कोमल अविकसित वासना जैसे एक प्रश्न बन गई, "तू कैसे लाया इसको?"

"मैंने उस लड़के को अपना वो वाला पैन दे दिया, उसके बदले यह ले ली।" ज़रा से भय को पीते हुए बंटी ने कह डाला।

"बच्चे अगर मम्मी-पापा ने देखा, तो तेरे को मार पड़ेगी!"

बंटी ने अपने अबोध लहज़े में कहा, "मेरे बैग में एक चोर जेब है, मम्मी को क्या, मम्मी के पापा को भी पता नहीं चलेगा।"

दोनों 'खिल-खिल' हंसने लगे।

"तेरे पास पैसे हैं?" बंटी ने एकाएक पूछ डाला।

"क्या करने?"

"कल वह और भी लाएगा। कह रहा था एक रुपए की एक देगा।"

"मेरे पास नहीं हैं।"

उदासी का बिन्दु दोनों के बीच ठहर गया।

कुछ लमहों बाद बंटी पिछली बात भूलकर भविष्य के सपने में चलने लगा। उसने कहा, "गिल्लू हम पिकनिक पर जाएंगे।"

"कैसी पिकनिक?"

"हमारे सर हमारी क्लास को पिननिक ले जा रहे हैं।"

"कब?"

"शायद अगले सण्डे को।"

"कहां जाओगे?"

"अभी सर ने नहीं बताया है...।"

इतना कहते-सुनते वे चौंक गए।

"मम्मी आ गई शायद।" गिल्लू फुसफुसाया।

"जा देखकर आ।"

"मैं नहीं तू जा।"

एक दूसरे पर टालते-टालते वे बिना यह जाने कि मम्मी ही हैं, अपना-अपना हठ लिए हुए चुपके से सामने बरामदे में आ पहुंचे।

पापा का गुस्सा उफ़न रहा था। गिल्लू-बंटी की मम्मी इस बात को बख़ूबी जानती हैं कि 'वे' ग़लत बात के लिए बाल की खाल निकाल लेते हैं। ग़लत को ग़लत और सही को सही कहना ही उनका नियम है।

पापा ने बंटी से पूछा, बंटी तुमने मेरी जेब से पैसे निकाले हैं?"

बंटी ने भय का घूंट भरा, परन्तु चेहरे और जीभ पर मनाहीं थी।

पापा ने और गम्भीर होकर पुचकारा, "देखो बंटी अगर सच बोलोगे तो हम तुम्हें कुछ नहीं कहेंगे। मारेंगे भी नहीं, न ही डांटेंगे।"

"पापा मैंने नहीं लिए हैं।" बंटी अड़ा रहा।

"तो फिर गिल्लू ने लिए हैं।" उन्होंने बंटी की स्थिरता से कुछ उगलवाने के लहजे में पूछा।

"पता नहीं।"

वे चुप। गिल्लू स्कूल से आता होगा, पापा को इसका इंतज़ार था।

"तुमने देखा होगा गिल्लू को स्कूल में पैसे खरचते।"

"नहीं।"

"ठीक है, अभी वह आता होगा उससे भी पूछ लेता हूं।" पापा ने जताते हुए कहा।

गिल्लू नहीं जानता था कि स्कूल से आते ही पापा उसे बुलवा लेंगे, उन्होंने वहीं से पुकारा, "गिल्लू, इधर आओ ज़रा।" उनके स्वर में क्रोध भरा आदेश था।

गिल्लू भय से भरा हुआ अपना गोल उतरा हुआ चेहरा लिए हुए वहां आ खड़ा हुआ।

पापा ने क्रोध, पुचकार, झिड़क आदि को मिलाकर उससे कहा, "देखो गिल्लू अगर सच बोलोगे तो हम तुम्हें कुछ नहीं कहेंगे।"

वह पापा को एकटक निहारता रहा, जाने-पहचाने सवाल को पूछ लिए जाने की पीड़ा में।

"तुमने मेरी जेब से पैसे निकाले हैं?" पापा ने एकाएक पूछ लिया।

"मैंने नहीं निकाले।" गिल्लू अपनी निर्दोषता में भी डर गया।

पापा के मन में आया कि इन्हें शारीरिक कष्ट देकर पूछा जाए क्योंकि उन्हें पूरा विश्वास था कि रुपए बच्चो ने ही निकाले हैं। पत्नी से सुबह वह पूछ चुके हैं। घर के नौकर का सवाल ही नहीं उठता।

"मैं तुम दोनों से आखिरी बार पूछता हूं कि पैसे किसने निकाले हैं। मुझे पता है तुम दोनों में से किसी ने निकाले हैं, या तुम दोनों ने मिलकर निकाले हैं। अब बता दो, नहीं तो आज रात तुम दोनों को पुलिस में दे आऊंगा। वहां पिटाई होती है खूब। मुझे बता दो, तो मैं कुछ नहीं कहूंगा, चलो शाबास।"

दोनों ने जैसे 'न' करने की ठान ली हो।

उन्होंने फिर समझाया, "तुम्हें सौ रुपये चाहिए तो मुझसे मांगो। मैं दूंगा तुम्हें, अगर न दूं तो कहना। पर चोरी करोगे तो नहीं छोड़ूंगा। शाबाश, जल्दी से बता दो किसने लिए हैं? गिल्लू ने लिए हैं?" उन्होंने बंटी की तरफ चेहरा करके पूछा।

कुछ अन्तराल बाद गिल्लू की तरफ घूम कर पूछा, "बंटी ने निकाले हैं? पता हो तो बता दो।"

उधर मां तेज कदमों से घर लौट रही थी। उन्हें पता था कि वे ऑफिस से लौटकर सबसे पहले बच्चों से रुपयों की चोरी की पूछताछ करेंगे। रुपये चाहे कहीं घर में ही गिर गए हों, पर बच्चे बिना वजह 'उनके' गुस्से का शिकार होते चले जाएंगे।

वह जैसे ही अन्दर पहुंची, और ठिठकी खड़ी रहीं। गिल्लू पापा को कांपती दबी आवाज में बता रहा था, "पापा बंटी ने आपकी जेब से निकाले थे सौ रुपये। तब आप और मम्मी सुधीर अंकल के घर गए थे। पापा मैंने इसे देख लिया था। इसने मुझे भी दस रुपये दिए हैं।"

वह कहकर चुप हो गया । उसकी चुप्पी से ही मानो कोई सन्नाटा निकलकर सभों के आस-पास फैल गया हो । बंटी मम्मी को दया भरी आंखों से देखने लगा । गिल्लू सच कहकर किसी बोझ तले से बाहर आ गया ।

"कहां हैं वे दस रुपए ?"

गिल्लू गया और बस्ते में रक्खी कापी में से वह नोट निकाल लाया, और पापा के हाथ थमा दिया ।

अभी क्षण-भर का खटका ही बीता था कि पापा की हथेली बंटी के कोमल गाल पर इस तरह बिछ गई कि उसकी सांस छूटी रह गई ।

यह देख गिल्लू इतना डर गया कि अपने अन्दर कांप गया । पापा ने उसकी ओर घूम कर कहा, "अपने कमरे में जाओ ।"

पापा ने बंटी को कंधे से पकड़ लिया उन्होंने चाहा कि पूछे गए हर सवाल के झूठे जवाब की चिढ़न वे उसे झिझोड़-झिझोड़ कर उतार देंगे । एक तमाचा और दिया । इससे पहले कि वह तीसरी बार हाथ उठाते, पत्नी बीच में आ गई । उन्होंने विरोध किया, "मैं कहता हूं हटो बीच से ।"

पत्नी उन्हें समझाने-सा लगी, "अब मार तो लिया आपने, बस छोड़िए । मैं उसे डांट दूंगी, आप कुछ मत बोलिए ।"

उन्होंने पत्नी को एक झटके से परे धकेल दिया । वह बंटी को बचा पाती कि उसे एक थप्पड़ और पड़ चुका था । मां मन मसोस कर रह गई ।

बंटी मानो होश खो देगा । मां से लिपट गया ।

पापा गुस्से में बड़बड़ाते कहीं चले गए । बंटी मां से चिपक-चिपक कर सिसकियों के घूंट भरे जा रहा था । उसके गाल पर की नसों का खूब उभर-उभर आता था । मम्मी को जलन भरा क्रोध कचोटने लगा ।

गिल्लू अपने कमरे में सब कुछ को सुनकर दहल-सा जाता । उसे अभी तक संदेह था कि पापा उसे भी कुछ कहेंगे ।

मम्मी गिल्लू के पास आईं । वह उनकी आंखों पर उतरे क्रोध को भांप गया । ममता को कुरेद दिया गया है । उन्होंने गिल्लू के समीप आकर उसे 'तड़' से झांपड़ दाग दिया और ज़हर उगलने लगी, "तू चुप नहीं रह सकता था ? बड़ा आया सच बोलने वाला ? तू समझता क्या है । तू नौकर नहीं तो और क्या है ? तेरे जैसे कुत्ते को इसलिए पालकर बड़ा किया है मैंने ? मुझे आज से मम्मी मत कहना, मैं नहीं हूं तेरी मां, समझे ? चाहे तो बंटी के बाप से पूछ लेना ।"

गिल्लू को धिक्कार दिया गया । वह एकटक उस औरत को देखता रहा । उनके लौटते हुए उन्हें अपनी आंखों पर उतार कर सोचा—'नहीं, ऐसा मम्मी नहीं कह सकती । यह मेरी वाली मम्मी नहीं है ।"

वह सरपट लौटीं, तो उनका पति आश्चर्य-भरी आंखों से उस औरत को देख रहा था, उस दूसरी औरत को···।

[खादी-ग्रामोद्योग, कांगडा, जिला कांगड़ा, हि० प्र०]

छः कविताएँ

□ जितेन्द्र कुमार

उनसे मिलने के बाद

उनसे मिलने के बाद
क्या सहज रहना संभव था
वहां रहना
जीवित या मृत
परम्परागत या आधुनिक
व्यर्थ था

संस्कृति वहां
एक पनाले सी बह रही थी
इसलिए
इस भीड़ भरे एकान्त में
अपने दूरस्थ शरीर की गंध से
तू मुझे जीवित कर
जैसे दिशाएं दिशाओं को खोज रही हैं

नींद ऐसे बसी है मेरी आँखों में

नींद ऐसे बसी है मेरी आँखों में
जैसे प्रातः काल हो
शायद तुम मेरी बात नहीं समझ पाओ
वह जरूरत से ज्यादा सहज है
मुझमें अजूबा होने का
एक भी गुण मौजूद नहीं है

जब रातों को उन्हें नींद आई
मैं एक चक्रवात के साथ-साथ चला
और धरती से आकाश तक का पूरा सफ़र
हताश नींद में कर गया
इसीलिए मैं अब भी जीवित जागा हुआ हूं
मैं क्या करूं
क्या उठकर अपनी सबसे बात कहूं
पर वह जो अब तक नहीं किया
अब किया तो क्या शालीन लगेगा
बेहतर है कि उठकर कुछ इधर-उधर की बात करू
कुछ वक्त तो कट जायेगा
जितना वह बचा है

अगर किसी ने पूछा :
तुमने अब तक वाजिब और तर्क-संगत क्या किया
तो मेरे पास क्या जवाब होगा
मैं तो औरों की तरह प्रगतिशील भी नहीं हुआ
मैंने केवल
खुद अपने को और दूसरों को तबाह किया

अब सोचता हूं जीवन का कुछ सलीका करूं
कुछ तो करूं काम की बात

पर जो अब तक नहीं किया
कैसे कर पाऊंगा

अपना भविष्य लिखते वक्त

अपना भविष्य लिखते वक्त उनींदा मैं
एक गहरी नींद में सोया हुआ हूं
याद करने को कुछ नहीं है

सहज होकर मैं अब पत्थरों पर लेट जाऊंगा
खुद अपना बेनामी दावेदार मरुस्थल की रेत में सोया हुआ
एक हल्की अलसाई हवा के झोंके
गहरी सांस से मुझमें बंधे हैं

हृदय पर नदी की सलवटें पहने मैं सोया हूं
समय की धार में एक बहती पत्ती

हवा उसकी कोर पर अपनी ही ठंड से ठिठुर गई है
और आँखों में नींद एक भावुक की तरह डोल रही है
उनकी आँखों में वह उनकी आत्मा का अन्तस्थल है
पवित्र लोग ! वेश्याएं, कवि और कलाकार

मेरे भीतर तो
नैतिक आदमी का एक भी दुर्गुण नहीं है

जब रातों को मैं जागा हुआ होता हूं

जब रातों को मैं जागा हुआ होता हूं
और तृप्त हुआ रहता हूं
मैं खोजता हूं तुम्हें
और मैं अपनी आत्मा को खोजता हूं
कितना कष्टकर है आत्मा का शरीर के बाहर कहीं होना
उन अनेकों में जो मेरी अजन्मी बेटियों
और प्रेमिकाओं के रूप हैं

पर पहले कौन होता है
आत्मा या रूप
कौन नहीं बिधता
नहीं जलता
नष्ट नहीं होता आत्मा के अतिरिक्त
पानी भी फिर किसे गीला नहीं करता
किसका क्षय होता है

जिसमें शरीर डूब जाये
जिसमें सारा शरीर डूब जाता है

एक नोटशीट से दूसरी तक

एक नोटशीट से दूसरी तक
यात्रा करते
मैं शून्य में बिला गया

वहां से मुझे मेरा प्रेम वापस लाया
बांहों में भरे जाने की कल्पना भर से
मेरे अंग थरथराये
यही तो मुझे उस वक्त जीवित रखे था

किसी रोज वह अपना पर्दा फाड़कर
बाहर आयेगी
और इठलाकर मेरे शरीर में बसकर
कहेगी
यही तो मेरी बस्ती है
यहीं तो कहीं मेरा मकान था

मानव प्रजाति

मानव प्रजाति का समय पूरा हुआ
कभी से
पर लोग जगह नहीं करते
वे चढ़ रहे हैं एक पर एक
कीड़ों की तरह
खुद अपनी लाशों पर रेंग रहे हैं
पिघला लोहा
अग्नि शलाका-सा चमकता यहां
उनके ऊपर से बह रहा है

यह जो आप देख रहे हैं
वहां ऊपर
वही ढल रहा है

[केन्द्रीय विद्यालय, मिनाम बक्कम, मद्रास-600027]

सात कविताएँ

□ अवधेश कुमार

अद्‌भुत समय

फूल की पंखुरियों
कैंची के इशारों से सावधान

पेड़ की डालियों
कुल्हाड़ी के इरादों से सावधान
आदमी के इरादों से सावधान
जंगल की आत्मा
ढूंढने लगी अपने मरने की जगह

स्वाद में मरा मुर्गा
याद में मरा आदमी
आपस में टकराई दोनों की आत्माएं
मेरी नींद में

मैं सावधान-सावधान चिल्लाता रहा
और सोता रहा

और इस तरह नींद के दलदली जंगल में
भटकता रहा रात भर

फिर उस ठंडी और कातर सुबह
धूप का पीला चश्मा पहने
मुझे मिला वह मुर्गा
बांग देने को तत्पर
और वह आदमी
उस अद्‌भुत समय में
अपने को पहचानने की कोशिश में बदहवास

फेंकते हुए अपने आप को
दुनिया के जंगल में
दूर दूर।

चप्पल

चमड़ी कवच है देह की
जिसमें आत्मा वास करती है

देह की सरहद पर
तलुओं के नीचे
ये जो चप्पल है
चमड़ा है किसी देह का

यह एक सम्बन्ध है
देह का देह से
और देह का आत्मा से
मैं चाहूं या न चाहूं
मेरे तलुए से जुड़ी रहेगी
कोई यातना।

इस जगत के प्राणी

इस जगत के तीन प्राणी
वैसे तो भरेपूरे हैं
लेकिन डरे-डरे हैं

एक उड़ता है
एक तैरता है
एक चलता है

चिड़िया—
चिड़िया को डर है बाज़ का
मछली—
मछली को डर है घड़ियाल का

आदमी—
और आदमी

और आदमी
और आदमी को डर है
आदमी का।

आम रास्ता

'यह आम रास्ता नहीं है'—
इस वाक्य ने मुझे डराया
उस अहाते के मुहाने पर
जहां से निकल कर मैं
जल्दी से दूसरे रास्ते पर
पहुंच सकता था।

मैं एक लम्बे अर्से तक
उस वाक्य से नहीं निबट सका।

तब एक दिन मैंने
साहस करके उसे रौंद डाला।

उस रास्ते ने
मुझसे कुछ नहीं कहा
मैं उस पर से गुज़र गया
आराम से
और वह वाक्य झूठा पड़ गया।

सुबह

बिल्लियों में तहलका मचा
चूहों में तहलका मचा

दांतों में तहलका मचा
खून में तहलका मचा
मिट्टी टूटी, पेड़ काँपे
सपनों में तहलका मचा।

एक हल्के-से सन्नाटे में
चिड़िया ने फूंक मारी
और भरम टूट गया।

तोता

तोता एक संवेदनशील प्राणी है
वह शाकाहारी भी है
अमरूद खाता है और हरी मिर्च चबाता है

सांस्कृतिक तौर पर
जितना शोभायमान बनाता है पिंजरे को
वह तोता—उतना और कोई पक्षी नहीं बनाता
वह सही-सही अनुकरण कर लेता है

वह बहुत सुरुचि सम्पन्न है
हर नायिका की कहानी में रहता है
और अपने तथा नायिका के बीच
नायक भी उसे सह लेता है
मास्टर जी
उसकी रुचियों को
बच्चे की आदत में
ढालने के लिए कृतसंकल्प हैं।

दुःखान्त

समुद्र की अतल गहराइयों में
झिलमिलाती हैं असंख्य मंदाकिनियां
अन्तरिक्ष में लहलहाती हैं वनस्पतियां
पक्षियों की तरह उड़ते हैं पहाड़
ऋतुएं धातुओं की तरह झनझनाती हैं
बुखार में है सृष्टि
बावला-सा वर्तमान
उन्माद में है भविष्य
नक्षत्रों ने छोड़ दिए हैं अपने परिक्रमा-मार्ग

आनन्द का अतिरेक
ऐसे मायावी
विराट महोत्सव में
एक अकेला दुःखान्त है—मनुष्य।

[90-कृष्णा गली, देहरादून-248001, उ० प्र०]

सिंदबाद : आठ कविताएँ

□ अवतार एनगिल

एक

पिता का अपार धन
मौसमी मित्रों पर लुटा
ठगा-सा
रह गया
सिंदबाद।

और अब
इस निर्मम अंधेरी रात में
आबाद शहर का बरबाद नागरिक
गश्त लगाते चौकीदार की हांक संग
देर तक जागता है
नींद से टलता है
पर नींद में चलता है—
किसी विशाल ह्वेल-की-पीठ-सी
ठण्डी दीवारों को टटोलता
वापस अपने गूदड़ तक आता है
और
जैसे-तैसे
कर्ज़ का जुगाड़ कर
यात्रा शुरू करने का सपना देखते हुए
बुलंद इरादे की
गहरी नींद को
अर्पित हो जाता है—
सिंदबाद।

दो

दु:ख की धार पर चलता
वह तेज धूप की तरह आया
और सारे कर्ज चुकाकर
बन बैठा—बड़ा सौदागर।

परिवर्तित हो गई
नन्हीं नौकाएं
विशाल जलपोतों में
और
शामिल हो गई
एक मासूम चिड़िया
रूक पक्षी की
सक्षम उड़ान संग।

धरती से—सागर से—आकाश त,
रास्ते बनाता
फिर भी, गर्दिश-दर-गर्दिश
धरती पर वापिस आता···
अपने शहर की पुरानी गलियों में
अपना गुमशुदा बजूद तलाशता।
अंतत: असफल होकर
दासों के अपार श्रम को
पूंजी में परिवर्तित करता
सत्ता के तिलिस्म रचता
कामनाओं के द्वार खोलता
सौन्दर्य को स्वर्ण मुद्राओं से तोलता
सुरा-स्नान करता रसिक
लिहाफों में लोटता
फानूसों की जगमग रोशनी तले:
नर्म गलीचों पर भी
करता है—
यात्रा यात्रा यात्रा।

तीन

अभी-अभी
सागर की कोख से
उगी एक अनाम किरण
उसके माथे की भीतरी कोठरी में
फैल गई है।
क्या कारण है
कि व्यापारी होकर भी
सिंदबाद व्यापारी नहीं ?
आखिर क्यों
हर बार वह
सौदागरों के समूह से
अलग हो जाता है ?
मगर क्यों फिर
यात्राओं की लम्बी यातनाओं के बाद भी
नियति उसे उसी जहाज के
उसी वर्ग से जोड़ जाती है
जिसके गिद्ध
सदैव मांस के लोथड़ों पर झपटते हैं
और मांस के साथ चिपके बेशकीमती हीरे
अजगरों की घाटी की घुटन से
निकल कर भी
एक बार फिर
तिजोरियों के अंधेरों में
छिप आने के लिए अपनी असफल यात्रा शुरु करते हैं।

चार

जब उन ग़लीज़ बौनों ने
अनेक कद्दावर यात्रियों की हत्या कर दी
तब सिंदबाद को अहसास हुआ
कि भिनभिनाते पगले छुटकों से
न उलझने का उसका निर्णय
कितना सही था।

लड़ना ही पड़ा तो लड़गा
मरना ही पड़ा तो मरेगा
मार सका तो मारेगा भी
धधकती आँख वाले
भूख के उस विराट राक्षस को
जिसके आबनूस को जादुई लकड़ी से बने द्वार वाले
महल के आंगन में
हर रोज़ जलता है—एक अलाव
और अलाव के पास रखी हैं
आदमी-के-दुखों सी
छड़ें अनेक
जिन पर पिरोकर
वह हर रोज़
आदमजाद को भूनता है
और भून कर खा जाता है।

बावजद इसके—आज सिंदबाद आश्वस्त है
क्योंकि उसने तय कर लिया है
कि आज रात
सोए हुए राक्षस की बंद आंख को
अलाव में दहकाई छड़ से दाग देगा
सिंदबाद बौनों से नहीं, कद्दावर राक्षसों से जूझेगा।

पांच

सागर किनारे
ठगे से खड़े
नारीयल के पेड़
एक दूसरे से पूछते हैं :
अरे द्वीप-दर-द्वीप भटककर
हमारे तट पर आन उतरने वाला
और बेनागा
गोताखोरों को
गहराइयों में भेजकर
बहुमूल्य मोती पाने वाला सिंदबाद
क्या सचमुच

हमारी मोतियों अटी खाड़ी छोड़कर
चला जायेगा
छोड़ कर हमें
अपने, अपने देश ?

छः

ठहरी हुई हवा नहीं
राजधानी की धमनियों में
प्रवाहित होता हुआ
ताज़ा लहू है वह।

उसके पास
चले आ रहे हैं
मदद मांगने आदमियों के रेवड़।

अरे भिखारियों !
निर्धनता खैरात या ज़कात से नहीं मिटती
मिटती है मगर वह
संघर्ष की भट्टी में तप कर।

सत्य से जुड़ती है किम्वदन्ती
किम्वदन्ती से कथा
कथा से प्रेरणा
प्रेरणा से गति
गति से यात्रा
यात्रा—मानें सिंदबाद।

सात

वह कथा नायक है, सम्राट नहीं
तिस पर भी, आज बादशाह सलामत ने
उसकी दावत कबूल की
उसकी नायाब बांदियों ने
हुजूर को खिदमत से खुश किया।

तिस पर भी
सम्राट को विदा करते हुए

जब सिंदबाद ने
उनकी गहरी आंख में झांका
तो ईर्ष्या की दहकती लपट ने
उसे चिंतित किया।

दर्पण के सामने आकर
वह तना
एक जाम और उढ़ेला
और अपने आपको
सागर के सपनों को सौंप दिया
परेशान सपनों में
सफेद हाथी की सवारी करते हुए
वह हाथी दांत की तलाश में भटकने लगा।

सिंदबाद नहीं जानता
कि सुबह उसे बुलावा आयेगा
कि सम्राट और साम्राज्य
उसकी यात्राओं के अनुभव से
फायदा उठायेंगे
और उसे दूत बनाकर
इस राजधानी से उस राजधानी तक
सातवां सफर करना होगा।

नहीं जानता सपनों में मग्न सिंदबाद
कि कल के बाद
सम्राट स्वयं
उसकी यात्राओं के संचित सुख की
सलामती के संरक्षक बनेंगे
कि नींद से जागते ही
सुरा, सुन्दरी और स्वर्ण का स्वामी सिंदबाद
सम्राट की सत्ता के हथियार की मार भी सहेगा।

अंतिका

रात के तीसरे पहर में
बगल में सोई औरत से बेखबर

अपनी कथित प्राप्तियों से दूर
मगर अपने खुद के करीब
अपनी अधूरी यात्राओं के प्रति

पूरा सजग
खुली आंख से
बंद खिड़कियों को घूरता
सात सफरों के बाद
अंतिम यात्रा की नियति के बारे में सोचता
प्रतीक्षारत
जागता
जागता है—सिंदबाद।

[सेट नं० 8, सिंह सभा भवन शिमला-171001]

समीक्षा

पहाड़ी जीवन की व्यथा

□ डॉ० कृष्णदत्त पालीवाल

हरिसुमन विष्ट का कहानी संग्रह 'आग और अन्य कहानियां' 'कथाकार शैलेश मटियानी एवं पंकज बिष्ट के लिए'—समर्पित है। ध्यान में यह विचार बिंब उमड़ने-घुमड़ने लगा कि शैलेश और पंकज की अन्तर्मानसिकता की बनावट में पहाड़ी जीवन की जीवंत धड़कन और वहां की प्रकृति लय है। पहाड़ की संघर्षमय जिन्दगी और गरीबी के कहानीनुमा रेखाचित्र हैं। सोचने पर पाया कि हरिसुमन बिष्ट का झुकाव शैलेश और पंकज की ओर यों ही नहीं है बल्कि उनकी मानसिकता की बनावट और सृजन प्रक्रिया में भी इन दोनों से गहरी समानता है। पहाड़ी जीवन संघर्ष के यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए किसी न किसी स्तर पर हरिसुमन तत्वरूप से, अभिव्यक्ति संपदा को विश्वसनीय बनाने के स्तर पर भी शैलेश की भांति ही कहानी का मुहावरा अपनाते हैं। इस मेल-मिलाप का मूल कारण शैलेश या पंकज का अनुकरण नहीं एक मौलिक रचनाकार का सृजनशील मन उनमें एक विशेष धार से सक्रिय है। दरअसल, बात यह है कि यहां पहाड़ी 'साइके' की मूल ज़मीन से जुड़ने के कारण का रिश्ता खोजना होगा।

हजारों वर्षों से पहाड़ों पर बसने वाली जाति ने जो यातना, संघर्ष, विसंगति, विडम्बना का जीवन झेला है—उसने पूरी जाति के सामूहिक अवचेतन मन पर एक अमिट छाप छोड़ी है। यह अवचेतन के स्तर पर दुःख और ट्रैजिक विजन के आद्य-बिम्ब कौंधाने के लिए विवश हैं। इस दृष्टि से 'आग' कहानी को बाहर भीतर से देखा-परखा जा सकता है। 'आग' की व्यथा में डूम-व्यथा का गूंगा दर्द मरोड़ खा रहा है। जाति भेद के अन्याय खौल रहे हैं, भूख की आग का लावा पिघल रहा है। अत्याचार के साथ पुलिस कचहरी का शोषण-फन फैलाकर रेंग रहा है। पूरी कहानी मानव श्रम और यातना की त्रासदी बन जाती है।

'मजदूरी', 'बड़े बाबू की चाय', 'एक बार फिर,' 'ऐसा खेल क्यों खेला', कहानियों में अपने पाठक को भीतर से चीरती हुई आवाज है। मैं इन सभी कहानियों पर कोई चलता 'कमेंट' नहीं करना चाहता हूं—केवल एक कहानी 'मजदूरी' को विश्लेषण के लिए प्रतीक रूप में लेता हूं। मजदूरी की कथा पर हिन्दी में द्विवेदी युग के बाद कहानी और कथा-साहित्य की स्थिति आप सभी को जाहिर है कि साम्राज्यवादी शोषण से उपजी इस समस्या ने हमारी अर्थव्यवस्था के तन्त्र को ही तोड़ डाला। लाखों लोगों को अपनी ज़मीनें जमींदारों को विवश होकर देनी पड़ी। हालत यह पहुंची कि हज़ारों किसान पेट की आग से विवश होकर तसला-खुर्पी उठाकर मजदूर बनते गए। मजदूरी ही भारतीयों को गुलाम बनाकर फीजी, गयाना ले गई और मजदूरी की मजबूरी ही गरीब को कलकत्ता, इलाहाबाद, दिल्ली ले उड़ी। पहाड़ी लोगों

का नाजुक मन उपनिवेशवादी लुटेरों ने बेरहमी से तोड़ा। पहाड़ों का कच्चा माल लूट कर अंग्रेज धनी हुए और पहाड़ी आदमी मजदूरी करने को विवश हुआ। आजादी के बाद भी पहाड़ के इस दर्द की दवा न हुई। अमानवीयता का नंगा चरित्र पहाड़ी जीवन का हाड़-फोड़ दर्द बनता गया। फलतः लम्बे समय से पहाड़ के कथाकार पहाड़ की गरीबी की व्यथा रचना में लिख रहे हैं। यह ठीक है कि इन कहानियों में कहानीपन कम सामाजिक आर्थिक इतिहास का हाशिया ज्यादा झिलमिलाता है। इस एक कहानी की कथ्यगत संवेदना और अनुभव विस्तार के आधार पर कहा जा सकता है कि हरिसुमन बिष्ट की कहानियों में मानवीय करुणा का संसार है और यथार्थ का सीधा साक्षात्कार।

इस संग्रह की पहली कहानी 'उसकी कहानी' में वहिन की छवि का छाया-चित्र है। कथानक का रूप विधान पवित्र प्रेम-सम्बन्धों के दायरे में फैलता है। 'अल्पना' में 'कल्पना' की छवि का समावेश काफी मनोवैज्ञानिक खिचाव एवं प्रभाव को लेकर आया है। कहानी के आरम्भिक विकास में वर्णनात्मकता और घटनाओं का संयोग विस्तार है—लेकिन संयोग और अप्रत्याशित कार्य व्यापारों की प्रतिष्ठा से निर्मित कथा-सूत्र पाठक को बहलाता नहीं है। जीवन को मात्र रति विकृतियों में न देखना हरिसुमन बिष्ट की एक खास विशेषता है।

'उसकी कहानी' 'आग' 'चिशाव' के कथानकों पर लम्बाई एवं विस्तार का फार्मूला लेकर आसानी से उपन्यास लिखा जा सकता था। इस संग्रह की कहानियों का कथा-धरातल, विषय के एक प्रसंग, एक घटना, एक मनःस्थिति के स्थान पर वह पूरा विषय होता है जिसमें जीवन की अन्य संवेदनाएं, खास अनुभव रसायनों में भिदकर सामने आती हैं। नतीजा यह होता है कि कथा विस्तृत होने के लिए मानो खूंटा तुड़ाती मिलती है—लेकिन बिष्ट उसे भागने नहीं देते—नाथकर काबू में किए रहते हैं।

इन कहानियों का एक विशेष महत्वपूर्ण पहलू यह भी है कि कथानकों में द्वि-त्रि-पक्षता नहीं है। उनकी स्थानगत पूर्ति संकेतों, व्याख्याओं और कथोपकथनों से की गई है। विश्लेषण का स्थल आते ही वे चूकते हैं और कथा की डाल से इधर-उधर छलांग मारकर अपना काम चलाते हैं। यह ठीक है कि इस संग्रह की अधिकांश कहानियां लम्बी होने के लिए आंतरिक बनावट के कारण ही विवश हैं। लेकिन नाटकीयता के साथ व्यंजना के प्रयोग 'आग' जैसी कहानी को काफी भरा-पूरा बनाते हैं।

कहानी में कविता की भांति ही भाव या विचार की संश्लेषणात्मक प्रक्रिया भी एक विशेष स्थिति में तीखी चरम अपनाने लगती है। रचनाकार जो दृष्टि जीवन संघर्ष से अर्जित करता है, उस दृष्टि से इस संग्रह की 'आग' कहानी पर निगाह डालना प्रासंगिक होगा। डूमों और बीठों के बीच का संघर्ष-शोषण अचानक ही नहीं आया है—इसका एक सामाजिक हाशिया है। मानवीय स्वतन्त्रता का एक सामाजिक अर्थशास्त्र रूप लेता देखा जा सकता है।

हरिसुमन बिष्ट की कहानियों में रचनाकार का प्रयास यह रहा है कि वे स्वप्निल कामुकता से दूर रहकर यथार्थ अनुभवों का धड़कता इतिहास व्यक्त कर सकें। समाज के अनुभव को निर्वैयक्तिक कला में ढालने की कोशिश का अर्थ है—रचना में वर्णन, विश्लेषण, वर्गीकरण और निष्कर्ष को लेकर सामूहिकता की ओर बढ़ने का प्रयास। गांव के प्रति कहानीकार का 'नास्टेल्जिया' उसे खींच-खींचकर खदेड़ता है—पर पीछा नहीं छोड़ता।

कहानियों के संवेदनाघातों में भूख बसी हुई है। यही भूख गहनतर यथार्थ की आंतरि-

कता से टकराती रहती है। कभी-कभार इसमें नए विचारों का हस्तक्षेप भी होता है। कथा अपने दबाव में तथ्यों को नोंच-नोंचकर उकसाती है—एक अनिवार्य सहजता के साथ। इसीलिए कहानी में 'ब्योरे' की जरूरत बढ़ती रही है—पर यह सब स्मृति-लीला उसकी व्यक्तिगत संवेदना मात्र का इतिहास नहीं है—ऐतिहासिक दर्द की अनुभूति का सीधा प्रभाव है। अतः कहानियों का अनुभव संसार आंतरिक अनुरोध के चरम का आग्रह है।

ये कहानियां आदमी की चेतना का रणक्षेत्र रचती हैं जिसमें लड़ना जरूरी है। जाहिर है ये कहानियां यथास्थितिवाद को तोड़ने का संकेत हैं। इसी बिन्दु से इनमें मानवीय अर्थ को इस्तेमाल किया गया है। मानवीय स्थिति की परिभाषा वह अपने अनुभव के भीतर ही कर सकती है किसी प्राप्त विचार के टर्म्स में नहीं।

इन कहानियों में भाषा के आंचलिक प्रयोग, वाक्य-विन्यास की मौलिकता को पुष्ट बनाते हैं और निर्धन समाज की व्यथा का बोझ निर्वैयक्तिक परम्परा में एक रास्ता खोजता है। फलतः अपने रचनाकर्म की बुनियादी ईमानदारी से हरिसुमन स्खलित नहीं होते। हां, वे एक खतरनाक खुलेपन के शिकार अवश्य हुए, जो आज की रचनात्मकता के लिए जरूरी तत्व नहीं है।

आग और अन्य कहानियां; हरिसुमन बिष्ट : प्रकाशक—जयश्री प्रकाशन, विश्वास नगर दिल्ली-32 मूल्य—पचास रुपये

मण्डी जनपद के लोक नाट्य

□ डॉ० विद्याचन्द ठाकुर

नाट्याचार्य भरतमुनि के अनुसार विविध कला विधाओं में नाट्य विधा की व्यापकता इतनी समृद्ध है कि किसी प्रकार का ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग तथा कर्म ऐसा नहीं है; जिसका समन्वित दर्शन नाटक में न होता हो :

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
न सा योगो न तत्कर्मं नाट्येऽस्मिनं यन्न दृश्यते ।।

महाकवि कालिदास ने मालविकाग्निमित्रम् में नाट्य कला की महत्ता प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि नाटक ही एक ऐसी कला विधा है, जिसमें भिन्न-भिन्न रुचि वाले प्रत्येक व्यक्ति को एक जैसा आनन्द मिलता है :

"नाट्यं भिन्नरूचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ।"

लोक नाट्यों के संदर्भ में भी उक्त तथ्यात्मक विशेषताएं पूर्णतया प्रवृत्त होती हैं और निस्संदेह कहा जा सकता है विविध कलाओं में लोक-नाट्यों का अग्रणी स्थान है। इस कला-विधा में गीत, नृत्य एवं वाद्य की त्रिवेणी संगीत समुच्चय के प्रवाह में मनोरंजन के साथ-साथ सांस्कृतिक परम्पराओं की सशक्त सामाजिक धारा के दर्शन भी सुलभ रहते हैं। पारम्परिक रूप से सभी लोक नाट्यों में अवश्यमेव कुछ-न-कुछ धार्मिक निष्ठाओं का समावेश रहता है। प्रायः हिमाचल प्रदेश के लोक नाट्यों में कृष्ण लीला के प्रसंग किसी-न-किसी रूप में जुड़े रहते हैं। सम्भवत: ऐसा मध्य काल में वैष्णव प्रभाव के फलस्वरूप कृष्ण-भक्ति धारा के प्रचार-प्रसार के कारण हुआ है। इस सांस्कृतिक पक्ष के साथ-साथ लोक नाटकों के क्रम के बीच-बीच में संवाद चलते हैं। जिनमें जन-समस्याओं एवं जीवन-पथ के संघर्षों को यथाप्रसंग गम्भीर तथा व्यंग्यपूर्ण शैली में कलात्मक ढंग से व्याख्यायित किया जाता है। लोक-मानस की समसामयिक चिन्तन शक्ति के अनुरूप सहज संप्रेषणीयता का गुण लोक नाट्यों की अनन्य विशेषता है। इस कला-निधि का आज भी समाज में बहुल प्रभाव एवं सहज आकर्षण विद्यमान है।

मण्डी जनपद हिमाचल प्रदेश का केन्द्रीय जिला है। इस जिला की सीमाएं कुल्लू, कांगड़ा, बिलासपुर, हमीरपुर तथा जिला शिमला से मिलती हैं। इन सीमावर्ती क्षेत्रों के मण्डी जनपद के लोगों के साथ परस्पर सामाजिक सम्बन्ध स्वाभाविक रूप में सदियों से चले आ रहे हैं। अतएव इन क्षेत्रों में सम्बन्धित जिलों की संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव पाया जाता है और इस प्रकार जिला मण्डी की संस्कृति में प्रदेश की संस्कृति के विविध रूप सम्मिलित हो गये हैं। इस वैशिष्ट्य के कारण लोक-संस्कृति के एक पक्ष लोक-नाट्य की विविधता भी मण्डी जनपद में

अन्य जिलों की अपेक्षा अधिक पायी जाती है। मण्डी जनपद की धरती पर जिस लोक-नाट्य ने जन्म लिया है, वह है 'बांठड़ा' तथा इसका ही एक अवान्तर विकसित रूप 'बुढड़ा'। इसके अतिरिक्त इसके सीमावर्ती क्षेत्रों में करियाला, भगत, हरण तथा मड़याला लोक-नाट्यों का प्रचलन है।

बांठड़ा

हिमाचल प्रदेश के लोक नाट्यों में बांठड़ा लोक नाट्य का सम्बन्ध पूर्णतः मण्डी जनपद से जुड़ा हुआ माना जाता है। प्रमुखतः इसका प्रचलन जनपद के सुन्दरनगर और करसोग उप-मण्डल तथा मण्डी सदर उपमण्डल के बल्ह और रिवालसर क्षेत्रों में पाया जाता है। बांठड़ा के प्रचलन के बारे में जनश्रुति है कि मण्डी-सुकेत राजवंश के पहले राजा वीरसेन की राजधानी पांगणा में थी। उनके राज्यकाल की एक घटना है। एक दिन राजा वीरसेन महल के प्रांगण में चहल-क़दमी कर रहा था। इसी चहल-कदमी में वह अनायास राज-रसोई के कक्ष की ओर चला गया। उसने देखा कि उसके बांठ (रसोईये) राजा के बज़ीर की आवाज़ में कुछ हास-परिहास कर रहे थे। बज़ीर एवं राजकर्मचारी लोगों पर किस तरह दबदबा रखते हैं और कोई न्याय का मार्ग सर्वज्ञात होते हुए भी रौब-दाब से लोगों को डरा-धमका कर अन्याय करते हैं, इस हास-परिहास में यह झलक मिलती थी। न्यायप्रिय राजा को इस प्रकार जो जानकारी मिली उससे वह अत्यन्त प्रभावित हुआ।

राजा ने अगले दिन अपने बांठों को दरबार में बुलाया। वहां उन्हें उस स्वांग को करने के लिए कहा जो उसने पिछले दिन चहलकदमी के बीच सुना था। बांठ पहले तो सहम गये परन्तु जब राजा ने उन्हें निर्भय होकर स्वांग करने को कहा तो उन्होंने मुक्त भाव से स्वांग प्रदर्शित किया। स्वांग में राज्य व्यवस्था में अन्याय की बात सामने आई तो राजा ने इसकी जांच की और निष्कर्ष यह सामने आया कि बज़ीर लोग सच ही प्रजा के साथ अन्याय करते हैं। राजा ने राज्य के सुसंचालन के लिए इस प्रदर्शन को बहुत उपयुक्त समझा। तब से राजा वीरसेन समय-समय पर बांठों के स्वांग का खुले दरबार में मंचन करवाते थे। जिसके परिणामस्वरूप राज-कर्मचारी 'भाण्डा-भोड़' के भय से प्रजा में हितकारी नीति अपनाने लगे। मनोरंजक होने के कारण धीरे-धीरे इन स्वांगों का प्रदर्शन मेले और त्यौहारों के अवसर पर भी किया जाने लगा। कालक्रम के साथ इन स्वांगों में विविध प्रकार के मनोरंजन प्रधान संगीत एवं सम्वाद जुड़ते गए। यही अब एक व्यवस्थित लोक नाटक रूप के स्थायी अंग बन गये हैं। वस्तुतः बांठ परम्परा से विकसित यह लोक नाट्य बांठड़ा नाम को प्राप्त हुआ है। बांठड़ा में हरिरंग, चन्दरौली, साधु, चेला-चेली, मालिन, नाई, बुजड़, मनमोहणी, किरड़ू देऊ, साह-साहणी, मेम-साहब आदि के रोचक दृश्य प्रस्तुत किए जाते हैं। सभी दृश्यों के पात्र विभिन्न प्रकार की विचित्र वेशभूषा पहनते हैं। जिसमें अधिकांश पात्र लड़की, भेड़-बकरे की खाल या सूखे देशी घिये के मुखौटे पहनते हैं। दाढ़ी-मूंछों के लिए बकरे के बालों अथवा भांग के रेशे (शेल्ह) का प्रयोग किया जाता है। हरिरंग पात्र अन्य वेशभूषा के साथ धोती अवश्य पहनता है, और इसी प्रकार चन्दरौली प्रायः मण्डी का पारम्परिक चोलू धारण करती है। लोक-नाट्य में चन्दरौली आदि सभी नारी पात्र नारी वेश में पुरुष ही होते हैं।

बांठड़ा का शुभारम्भ खुले प्रांगण में 'हरिरंग' से किया जाता है। हरिरंग के दृश्य में

कृष्ण रूप हरिरंग नाट्याभिनय करता है। इसके साथ चन्दरौली (चन्द्रावली) भी प्रवेश करती है। हरिरंग के प्रांगण में आगमन पर गीत गाया जाता है—

हरिरंग लागा साधो,
हरिरंग लागा···
जमना किनारे रास रचांदा मेरा कान्हड़ा,
रूसी रूसी जांदा मेरा कान्हड़ा,
हरिरंग लागा···

बांठड़ा के विविध स्वांग दृश्यों में एक है चेला-चेली का स्वांग। इसमें रोचक व्यंग्य के साथ बीस टकों का हिसाब-किताब लिया-दिया गया है। यथा—चेले से चेली पूछती है—'तेरे बाल्ले बीह टके थे, तिन्हां रा स्हाब दे।' (तेरे पास बीस टके थे, उनका हिसाब दे।)

'दस ! दस ! स्हाब, दस ! टके थे बीह।'
(बता ! बता ! हिसाब, बता ! टके थे बीस।)

चेला—रस्ते मिली तेरी भैंण। से बोली भैंणी रे लाड़े भणोई जी। से बोली जी तां मैं बोल्या तू जुगा जुगा जी, होर एक टका तेस्स जो दित्ता।
(रास्ते में तेरी बहन मिली। वह बोली बहन के पति बहनोई जी। वह बोली जी, तो मैंने कहा तू युग-युग जीती रह और एक टका उसको दिया।)

चेली—टके रहे उन्नी।
(टके रहे उन्नीस।)

चेला—आगे मिली एक मुन्नी, टका तेस्सा जो दित्ता।
(आगे एक लड़की मिली, टका उसको दिया।)

[तत्पश्चात् एक-एक टका कम होता जाता है और अन्त में जब चेली कहती है 'टका रहेया एक' (टका रहा एक) तो चेला कहता है—'एब्बे तू गुरु आगे माथा टेक होर टका रख गुरु रे चरणा। तू अपणे भागा जो देख।' (अब तू गुरु के आगे माथा टेक और टका गुरु के चरणों में रख। तू अपने भाग्य को देख।]

बीस टकों की भांति ही चम्बा के हरणात्तर लोक-नाट्य में बीस भेड़ों के हिसाब का स्वांग गद्दण और गद्दी के बीच होता है। यथा—

गद्दण—भेड़ा रा स्हाब दे, कुल भेड़ा थिये बीह।
(भेड़ों का हिसाब दे, कुल भेड़ें थीं बीस।)

गद्दी—खरा ! कुल भेड़ा थिये बीह, अकी जो लई गेया सीह।
(अच्छा ! कुल बीस भेड़ें थीं, एक को सिंह ले गया।)

गद्दण—भेड़ा रेही उन्नी।
(भेड़ें उन्नीस रहीं।)

गद्दी—अक खाई मैं भुन्नी।
(एक मैंने भूनकर खा ली।)

इसी क्रम से अन्त में—

गद्दण—भेड़ा रेही अक ।
(भेड़ रही एक ।)

गद्दी—तेस्सा-रा बड्डा मैं नक्क । कने मुक्की गेई भेड़ा बक्स ।
(उसका मैंने नाक काट दिया और सारी भेड़ें समाप्त हो गईं ।)

हरणात्तर तथा बांठड़ा लोक-नाट्य के और भी साह-साहणी, मेम-साहब, साधु आदि के अनेक स्वांग पर्याप्त मिलते-जुलते हैं। मण्डी और चम्बा जनपद पर्वत घाटियों से कटे हुए दूर-दूर के भू-भाग हैं। तथापि जो ऐसी समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं, उससे पर्वतीय लोक मानस का एकात्म चिन्तन एवं इनके परस्पर सामाजिक मेल-मिलाप की सुदीर्घ परम्परा प्रतिबिम्बित होती है ।

बुढड़ा

मण्डी के जिन क्षेत्रों में बांठड़ा मंचित होता है, वहां लोक-नाट्य बुढड़ा के प्रदर्शन की परम्परा भी चली आ रही है। कुछ लोगों के विचार में बुढड़ा नाटक बांठड़ा के हरिरंग चेला-चेली, साह-साहणी आदि स्वांगों के बीच का एक स्वांग है। बुढड़ा लोक-नाट्य के बीच गाये जाने वाले एक गीत की निम्नलिखित पंक्तियां इस विचार को सम्पुष्ट करती हैं—

चानणी ओची री पार चागा,
ग्वालू रा बांठड़ा भाईयो लागा ।

अर्थात् पार ऊंचे पर्वत शिखर पर चांदनी का सौन्दर्य छिटका हुआ है और इधर ग्वालों का बांठड़ा लग पड़ा है ।

बुढड़ा लोक नाटक के अध्ययन से इन गीत-पंक्तियों की सार्थकता यहीं तक स्पष्ट होती है कि बुढड़ा के मंचन की परम्परा अवश्यमेव बांठड़ा की पृष्ठभूमि से प्रेरित होकर विकसित हुई है। जहां तक स्वांगों में एक स्वांग होने का प्रश्न है, उसमें यह तथ्य सामने आता है कि बांठड़ा के स्वांग क्रम का भाग बुढड़ा न तो आज है और न ही पहले कभी रहा है ।

वास्तव में जिस काल में बांठड़ा का प्रचलन प्रारम्भ हुआ, उस समय समाज में वर्ण-व्यवस्था के नियम बड़े जटिल थे। बांठड़ा लोक नाट्य का मंचन सवर्ण लोगों द्वारा किया जाता था। असवर्ण लोग इसमें अभिनय नहीं कर सकते थे। जब बांठड़ा स्वांग के दृश्य उनके हृदयों को छूते थे तो उन्हें भी लालसा होती गई कि वे भी कुछ इस प्रकार का नाट्याभिनय ऐसे ढंग से करें, जिससे सवर्ण जाति के लोग नाराज़ भी न हों और वे अपनी नाटक की अभिलाषा भी पूरी कर सकें। इसी सोच के परिणाम में असवर्णों द्वारा अपने ही ढंग का बांठड़ा शुरू किया गया। आज जबकि वर्ण व्यवस्था शिथिल हो गई है। सवर्ण लोग भी 'बुढड़ा' का अभिनय करने लगे हैं। पहले इसे केवल असवर्ण ही करते थे। वे गांव के घर-घर जाकर प्रांगण में इसका प्रदर्शन करते थे। जिस काल में यह लोक-नाट्य प्रारम्भ हुआ उन दिनों असवर्ण लोग अधिकांशतः गांव के ग्वाले हुआ करते थे। अतः इस लोक-नाट्य को ग्वालों का बांठड़ा (ग्वालू रा बांठड़ा) नाम दिया गया। परन्तु, पराल घास से मढ़े हुए इसके मुख्य पात्र की शक्ल-सूरत बूढ़े व्यक्ति की तरह लगने लगी तो लोगों ने व्यंग्य के रूप में इसे बुढड़ा कहना शुरू कर दिया होगा। धीरे-धीरे इस

लोक-नाट्य के लिए 'बुढड़ा' नाम ही व्यवहार में प्रसिद्ध हो गया और 'ग्वालू रा बांठड़ां' नामक लोक गीत की पंक्तियों तक ही सीमित हो गया ।

बुढड़ा लोक-नाट्य की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें पात्रों के बीच सीधा वार्तालाप नहीं होता । इसका पूरा अभिनय नृत्य, गायन और वादन पर आश्रित है । बुढड़ा में सीधे सम्वाद-वार्तालाप का न होना भी तात्कालीन सामाजिक व्यवस्था को इंगित करता है । लोक-नाट्यों के सम्वादों में व्यंग्य का पुट होना स्वाभाविक है । असवर्णों के व्यंग्य-बाण उस समय का आभिजात्य वर्ग कदापि सहन नहीं कर सकता था । इसलिए इसका पूरा प्रदर्शन संगीतमय ढंग से किया जाता है ।

इस लोक-नाट्य का प्रमुख पात्र बुढड़ा कहलाता है । जिसका पूरा शरीर धान के पराल से मढ़ा जाता है । उसके सिर तथा दोनों हाथों के अग्र-भाग पर तीन-तीन लम्बे-लम्बे सींग-से बनाये जाते हैं । बुढड़ा के साथ दो पुरुष नारी वेश में होते हैं, जिन्हें चन्दरौली कहा जाता है । यह घाघरू या चोलू तथा घुण्डु (दुपट्टा) पहने होते हैं और हार, बालू, बेसर, चॉक आदि नारी आभूषणों को भी पहनते हैं । एक पात्र भगवा वस्त्र में जोगी होता है । एक पात्र हाथ में डण्डा लिए होता है, जिसे डण्डू कहते हैं । एक चिथड़े से पहने हुए मसखरा (विदूषक) और एक ढीली-ढाली पर्वतीय पोशाक में पहाड़ी नाम का पात्र होता है ।

इस नाट्य में नृत्याभिनय करता हुआ सबसे पहले बुढड़ा प्रांगण में प्रवेश करता है । उसके बाद क्रम से चन्दरौली, जोगी, डण्डू, पहाड़ी आदि पात्र इसमें सम्मिलित होते हैं । इसका प्रदर्शन बुढड़ा मण्डली द्वारा आश्विन पूर्णमाशी गौ-माला के दिन से कार्तिक पूर्णमासी घोड़-माला के दिन तक घर-घर जाकर किया जाता है । बुढढ़ा में प्रचलित गीतों की कुछ पंक्तियां यहां दी जाती हैं, जिनमें स्पष्टत: व्यंग्य का पुट झलकता है—

नाचे ओ बुढड़ेआ खड़ा-खड़ा,
आधी रोटी पूरा बड़ा,
पाया हो बुढड़ेआ तेरे मड़ा ।
आया हो सुहागणिये फुल्ले माले,
मरूआ पंजपतरा फुल्ले डाले,
जोगी मरदा सेले पाले,
सैहर सकेता जो जाईए,
रूं होर कपाह लयाईए,
जोगी जो ल्हेफा भराईए ।
पहाड़ा रे देस्सा ले आया मेरा मामा,
बल्हा रे देस्सा जो जाणा रामा ।

अर्थात् अरे बुढड़ा तू खड़ा-खड़ा नाच । इससे तुम्हें आधी रोटी और पूरा बड़ा (माश का बना भल्ला) मिलेगा । हे बुढड़े ! ये तेरे मृतक शरीर के काम आने चाहिए । हे सुहागिन ! फूल माला के साथ आना । इस समय मरुआ नामक पांच पत्तों वाला फूल डाली-डाली पर खिला है । यह जोगी ठण्ड से मर जाएगा । तुम सुकेत के शहर सुन्दरनगर में जाओ । वहां से कपास ले आओ तथा जोगी के लिए लिहाफ-रजाई तैयार करो । हे राम ! यह क्या ? पहाड़ देश का आदमी आया है, इसने बल्ह मैदानी देश में जाना है ।

करियाला

करियाला लोक-नाट्य की मंचन भूमि प्रधानतः प्रदेश के शिमला, सोलन और सिरमौर ज़िले हैं। मण्डी ज़िला के करसोग उपमण्डल में शिमला से लगते तत्तापाणी आदि क्षेत्र में भी करियाला का मंचन होता है। करियाला और बांठड़ा लोक-नाट्य में पर्याप्त समानता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों में स्थान-भेद के कारण स्वरूप-भेद हुआ है अन्यथा, इनकी मूल धारा एक ही रही है। करियाला को कराला भी कहा जाता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति भयावह अर्थ के वाचक संस्कृत के कशल शब्द से संभावित है। इस लोक-नाट्य में पात्र मुखौटे आदि पहन कर भयावह रूप बनाते हैं। इसीलिए इसे कराला या करियाला नाम से अभिहित किया गया है। करियाला में जोगी-जोगिन, पति-पत्नी, साहब-मेम तथा साधु आदि के अनेक स्वांग किये जाते हैं। साधु के स्वांगों में हास्य-व्यंग्य के साथ-साथ शास्त्र-ज्ञान का भी बोध करवाया जाता है। साधुओं की मण्डली में एक हास्य विशेषज्ञ 'मसखरा' नाम का पात्र होता है। मसखरा साधुओं से प्रश्न करता है और साधु उसका उत्तर देते हैं। यथा—

मसखरा—बाबा लोगो ! एक प्रश्न पूछूं।
साधु—हां ! हां ! बेटा ! शौक से पूछो।
मसखरा—आर बी लंका पार बी लंका, बिचे धुआंधारी।
राम लखन जब वन को गये थे,
तब कहां थे तुम तपधारी।
साधु—आर बी लंका, पार बी लंका,
बिचे धुआंधारी।
राम लखन जब बन में गये थे,
यह थे तिन्हां साथी बगारी।
मसखरा—सच बोलो बाबा ! मजाक न करो।
दूसरा साधु—सुनो बेटा ! सच्ची बात मैं बतलाता हूं—
आर बी लंका पार बी लंका,
बिचे धुआंधारी।
राम लखन जब वन में गये थे,
हम थे उनके पुजारी।
मसखरा—बाबा बताओ ! एक, दो और तीन क्या होता है ?
पहला साधु—एक मैं हूं, दो मैं और तू है तथा
तीन मैं, तू और यह दूसरा साधु है।
मसखरा—बाबा मज़ाक नहीं ! सच बताओ ?
दूसरा साधु—बेटा ! सच जो है वह सुनो। एक ओंकार है। दो चांद और सूरज हैं तथा
तीन लोक हैं।

भगत

कांगड़ा ज़िला से लगते मण्डी के चौंतड़ा क्षेत्र में भगत लोक-नाट्य की परंपरा प्रचलित है। भगत का प्रचलन कांगड़ा, चम्बा, ऊना और हमीरपुर ज़िलों में प्रमुख रूप से है। कहते हैं कि

विगत समय में मथुरा, वृंदावन के रासधारिये इस क्षेत्र में आते रहते थे। वे घर-घर जाकर कृष्ण भक्ति के गीत गाते थे और कृष्ण लीला का अभिनय भी करते थे। यहां के स्थानीय लोगों ने भी इस कृष्ण लीला अभिनय को ग्रहण किया और स्थानीय परिवेश में ढाल कर इसका स्वयं यहां प्रचलन करवाया जो यहां भगत लोक-नाट्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसमें कृष्ण, कृष्ण-सखा मनसुख और सखियां (गोपियां), राधा, रुकमणी आदि पात्रों का अभिनय होता है। यद्यपि भगत का प्रमुख प्रदर्शन कृष्ण लीला पर केन्द्रित रहता है फिर भी, इसके साथ भगत मण्डलियां भगवान् राम, राजा हरिश्चन्द्र, पूर्ण भक्त आदि पौराणिक एवं ऐतिहासिक चरितों का भी नाट्य-प्रदर्शन करते हैं। कृष्ण भक्ति गीतों का प्राधान्य तो इसमें रहता ही है, इसके साथ हास-परिहास पूर्ण सम्वाद भी भगत लोक नाट्य में लोक रुचि को सबल बनाते हैं। जैसे कृष्ण और मनसुख के कुछ संवाद देखें—

कृष्ण—अँ जी ! मन सुखया !
(अरे ! मनसुख !)
मनसुख—की गलांदे महाराज ! तेरा मन किहां दुखिया ?
(क्या कहते हैं महाराज ! तुम्हारा मन कैसे दुःखी है ?)
कृष्ण—म्हारेमनसुख लाल जी !
(हमारे मन सुख लाल जी !)
मनसुख—खरा ! तेरे हन बुरे हाल जी !
(अच्छा ! तेरे हैं बुरे हाल जी !)
कृष्ण—हां ! मेरी तबीत ठीक नीं।
(हां ! मेरी तबीयत ठीक नहीं।)
मनसुख—हां महाराज ! ठीक होई कदूं ?
(हां महाराज ! ठीक हुई कब ?)
कृष्ण—क्या ?
मनसुख—तुस्सा री नीत, होर क्या ?
(तुम्हारी नीयत, और क्या ?)

हरण

हरण लोक-नाट्य का प्रमुख क्षेत्र जिला कुल्लू है। कुल्लू जिला से लगते सनोर, बदार चौहार और बाली चौकी मण्डी-सिराज के क्षेत्र में भी यह लोक-नाट्य प्रदर्शित किया जाता है। इस नाट्य की पृष्ठभूमि रामायण काल से सम्बन्धित मानी जाती है। कहा जाता है कि जब हनुमान जी ने लंका में जाकर सीता माता की खोज आरम्भ की तो वह इतनी ही जानकारी पा सके कि सीता लंका नगरी में ही किसी स्थान पर रखी गयी है। उस स्थान का पता वह नहीं पा सके। वे वापिस राम के शिविर में आ लौटे। तब वहां सीता का पता लगाने की योजना बनायी गई। हनुमान अपने कुछ साथियों को लेकर राक्षसी भेष धारण कर लंका में राजा रावण के पास उपस्थित हुए। उन्होंने रावण को याद दिलाया कि मरीच राक्षस ने सोने का हरिन बन कर आपके लिए अपनी जान दी है। इसलिए महाराज की आज्ञा हो तो हरिन के रूप में मरीच की सेवा को अमर बनाने के लिए वे लंका नगरी में हरिण नाटक खेलना चाहते हैं। रावण बहुत

प्रसन्न हुआ और उसने घोषणा की कि लंका राज्य के घर-घर में हरिण नाटक का बेरोक-टोक प्रदर्शन करवाया जाए। तब हनुमान दल ने रात्रि के समय लंका के घर-घर जाकर हरिण नाटक का प्रदर्शन प्रारम्भ किया। हरिण को लोक भाषा में हरण या हौरण कहते हैं। दो व्यक्ति ऐसी मुद्रा में अर्ध झुकाव लेते हैं कि दोनों के मिलने से एक चौपाया बन जाता है। उनके ऊपर चितकबरा पट्टू चढ़ाया जाता है। आगे भांग के लकड़ को सजा कर दो सींग लगाये जाते हैं। बीचों-बीच सिर से पीछे की ओर को एक सफेद पटका रखा जाता है। यही आकृति हरण कहलाती है। हिमाचल के जिला किन्नौर में 'होरिंगफो' और चम्बा में 'हरणातर' लोक-नाट्य में भी लगभग इस आकृति का हरिण बनाया जाता है।

मण्डी तथा कुल्लू में हरण के साथ कुछ विदूषकीय पात्र होते हैं, जिन्हें डंठी कहा जाता है। जब किसी घर के प्रांगण में हरण का नृत्य चल रहा होता है, उस समय डंठी अगाड़े-पछाड़े घूमता-फिरता रहता है। लंका नगरी में भी ये इसी प्रकार कोने-कोने में छान-बीन कर के सीता का पता लगाने का प्रयास करते थे। जब निश्चित होता कि सीता यहां नहीं है तो वे 'हो' की लम्बी आवाज करते थे। हरण का नृत्य बन्द हो जाता था। तत्पश्चात् कुछ देर हास-परिहास में संवाद के बाद वे अगले घर की ओर प्रस्थान करते थे। इस तरह खोज-बीन करते हुए एक रात उन्हें अशोक-वाटिका में सीता के होने का पता चल गया। तब इसके बाद हरण का प्रदर्शन बन्द कर दिया गया और सीता के मुक्त करने के लिए कई अन्य मार्ग अपनाए गये।

कुल्लू में आज भी विजयादशमी दशहरा से पन्द्रह पोष तक और कहीं-कहीं बसन्त-पंचमी तक हरण का प्रदर्शन अनेक टोलियों द्वारा गांव-गांव तथा घर-घर जाकर किया जाता है। मण्डी में अधिकांशतः इसका प्रदर्शन शरद् नवरात्र अथवा देवी-देवताओं के शरद्कालीन पर्वों के अवसर पर किया जाता है। इसमें नृत्य एवं संगीत तो चलता ही है, इसके अतिरिक्त जो स्वांग-संवाद किए जाते हैं, उनमें हास-परिहास के साथ-साथ बौद्धिक महत्व की प्रश्नोत्तरी भी चलती है। जैसे एक स्वांग में एक व्यक्ति डंठी से प्रश्न करता है—

'जदी तेरा बाब हुआ, तदी कौ थी तू ?'

(जिस दिन तेरे बाप ने जन्म लिया, उस दिन तू कहां था ?)

इस प्रश्न के उत्तर में एक डंठी हंसी मजाक में मनघडन्त उत्तर देता रहता है। अन्त में दूसरा डंठी उसको झाड़ डालते हुए सटीक उत्तर देता है—

'मड़ेया ! तदी थी तू तेरे बाबें रें मौत्थें न।'

(अरे बुद्धू ! उस समय था तू तेरे बाप के मस्तक अर्थात् भाग्य में।)

हरण नाटक कुछ भिन्न स्वरूप में मण्डी जनपद के चौंतड़ा क्षेत्र में भी लोहड़ी की रात को प्रदर्शित किया जाता है। इस में दो-तीन व्यक्ति जानवर की खाल ओढ़ कर मुंह पर मुखौटे और सिर पर लकड़ी के सींग लगाकर हरण बनते हैं। इनके साथ चन्दरौली तथा मनसुख पात्र भी होते हैं। चन्दरौली का नृत्य और मनसुख का हंसी-मज़ाक भगत लोक-नाट्य की तरह चलता है। इसके अतिरिक्त इसमें साधु, मदारी, ओझा आदि के स्वांग भी किये जाते हैं।

मडयाला

धर्म-अधर्म, सज्जनता और दुर्जनता का संघर्ष समाज में युगों से चला आ रहा है। सत्युग में जहां भक्त प्रह्लाद, त्रेता में भगवान राम और द्वापर में श्री कृष्ण धर्म का प्रतिनिधित्व

करते थे, वहां हिरण्यकशिपु, रावण एवं कंस आदि पुरुष अधर्म या दुष्टता के अनन्य उदाहरण रहे हैं। कलिकाल में भी देव-दानवों के द्वेष-द्वन्द्व की अनेकों दन्त कथाएं सुनने को मिलती हैं। दानवी प्रवृत्ति का एक वर्ग समाज में डाकिनियों का रहा है। ये न केवल जन-साधारण का अनिष्ट करती हैं परन्तु, समय-समय पर देवी-देवताओं को भी तंग करती हैं। कहा जाता है कि एक बार डाकिनियों ने सिराज घाटी में बड़ा भारी आतंक फैला दिया। क्षेत्रीय देवी-देवता इनकी दुष्टता का सामना कर पाने में असमर्थ होने लगे। अन्ततः वे देवी-देवता शिवधाम में भगवान् शिव के पास पहुंचे। शिवजी ने आने का कारण पूछा तो देवताओं ने अपनी व्यथा सुनाई। इस पर शिवजी ने अपने भूत-प्रेतों की सेना को यहां भेजा और अश्लीलता का पुट लिए हुए ऐसा नाटक खेला कि डाकिनियां देवी-देवता तथा समाज के सामने नहीं आ सकीं। सारा क्षेत्र निर्भय हो गया और सर्वत्र शिवजी के नाम का स्तुति गान होने लगा। सारे क्षेत्र में शिवजी का साम्राज्य स्थापित हो गया। यही शिव-राज्य कालान्तर में सिराज (शिवराज) नाम से विख्यात हुआ है। जिसके अन्तर्गत आज-कल मण्डी जनपद का सिराज विकास खण्ड तथा कुल्लू का बंजार, आनी और निरमण्ड विकास खण्ड सम्मिलित हैं। इन क्षेत्रों में फाल्गुन मास के देवोत्सव में उक्त दानवी शक्ति के दमन की स्मृति में मडयाला़ लोक-नाट्य का प्रदर्शन किया जाता है।

मडयाला़ लोक-नाट्य में कुछ पुरुष अपने चेहरे पर लड़की के मडयाले (मुखौटे) धारण करके भूत-प्रेतों एवं दानवों की आकृति बनाते हैं। शरीर पर शरूली नामक घास से बने चोलू या फटे-पुराने चिथड़े धारण करते हैं। इस प्रकार से वे भयानक दानवी रूप बना कर वाद्य-संगीत के ताल पर नृत्य करते हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार का अभिनय करते हुए अश्लील प्रदर्शन भी करते हैं। इस अश्लील प्रदर्शन का उस समय कुछ भी बुरा नहीं माना जाता है अपितु, अलग-अलग स्थानों पर बैठ कर स्त्री-पुरुष इस प्रदर्शन को बड़े शौक से देखते हैं।

मडयाला़ नाट्य में अश्लील प्रदर्शन से पूर्वकाल में डायन-डाकिनी आदि अनिष्ट शक्तियों का ह्रास हुआ था। जन-विश्वास है कि आज भी अदृश्य अनिष्ट शक्तियों के शमन के लिए यह प्रदर्शन अनिवार्य है तथा इस प्रदर्शन से क्षेत्र में वर्ष भर सुख-समृद्धि का साम्राज्य बना रहता है।

[जिला भाषा अधिकारी, मण्डी (हि० प्र०)]

आयोजन

मुखौटा निर्माण कार्यशाला

□ अशोक हंस

पश्चिम क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, उदयपुर (राजस्थान) तथा हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी के संयुक्त तत्वावधान में दिनांक 25 अगस्त से 8 सितम्बर, 1989 तक शिमला में पन्द्रह दिवसीय पारम्परिक मुखौटा निर्माण कार्यशाला का आयोजन किया गया। इस कार्यशाला का उद्घाटन 25 अगस्त को वाई० डब्लू० सी० ए० हॉल शिमला में हुआ।

अकादमी के सचिव डॉ०बंशी राम शर्मा ने कहा कि प्रदेश में लगभग सौ मुखौटा कलाकार अपने गांवों में इस कला विधा में कार्य करते हैं। पश्चिम केन्द्र के नाटक निर्देशक श्री अफसर आकाश ने केन्द्र द्वारा उदयपुर में स्थापित शिल्प-ग्राम की जानकारी दी तथा बतलाया कि इस शिल्प-ग्राम में देश की पारम्परिक निष्पादन कलाओं से सम्बन्धित मुखौटा संग्रहालय बनाया जा रहा है।

उप सचिव (भाषा एवं संस्कृति) हिमाचल प्रदेश सरकार, श्रीयुत श्रीनिवास जोशी ने कहा कि मासूम और भोला चेहरा लेकर हर प्राणी इस संसार में आता है। समाज को देखता है। उसकी विषमताएं और संभावनाएं उसे इतनी गहन नजर आतीं हैं कि वह मुखौटा ओढ़ लेता है। अलग-अलग दायित्व निभाने के लिए अलग मुखौटा। मनुष्य की संतुष्टि भिन्न परिस्थितियों में बदलती चमड़ी के मुखौटों से न हुई तो उसने लकड़ी, धातु, खाल, मिट्टी, लुगदी का इस्तेमाल कर मुखौटे बनाए और उन्हें पहन कर वह सब बनने लगा जो वह समाज में न बन सका परन्तु बनने की हमेशा चाह रही।

माननीय शिक्षा मन्त्री श्री सागर चन्द नैयर ने इस कार्यशाला का उद्घाटन करते हुए अपने भाषण में कहा कि सांस्कृतिक केन्द्र देश की संस्कृति व कला के उत्थान के लिए अच्छा कार्य कर रहे हैं। उन्होंने पारम्परिक मुखौटा निर्माण कार्यशाला की सराहना की।

मुखौटा निर्माण कार्य बिन्दूराज धर्मशाला हॉल में हर रोज प्रातः 10 बजे से सायं 5 बजे तक जारी रहा अनेक साहित्यकारों व कलाकारों ने मुखौटा निर्माण कार्य को करीब से देखने में विशेष रुचि ली।

वित्तायुक्त एवं सचिव (भाषा-संस्कृति) हिमाचल प्रदेश सरकार श्री महाराज कृष्ण काव ने मुखौटा के निर्माण कार्य को देखकर कहा कि ग्राम्य परिवेश के पारम्परिक कलाकार कैसे अपनी सांस्कृतिक धरोहर का पोषण करते हैं, यह देखकर अच्छा लगा।

मुखौटा की रचना प्रक्रिया पर 31 अगस्त, तथा उनके विभिन्न प्रयोगों पर 8 दिसम्बर को गोष्ठी का आयोजन हुआ। समापन समारोह 8 दिसम्बर को सायं 4.00 बजे, वाई० डब्लू०

सी० ए० हॉल शिमला में हुआ तथा इसी हॉल में कार्यशाला के दौरान निर्मित मुखौटों की प्रदर्शनी का आयोजन 8 सितम्बर से 11 सितम्बर तक भाषा एवं संस्कृति विभाग द्वारा किया गया।

इस कार्यशाला में हिमाचल प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों से 20 तथा पश्चिम बंगाल के 2 मुखौटा शिल्पियों ने भाग लिया। कार्यशाला के दौरान इन्होंने 89 मुखौटों का निर्माण किया जिनमें से 46 मुखौटे पश्चिम क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र और 43 मुखौटे हिमाचल अकादमी को आवंटित हुए हैं।

इस कार्यशाला के दौरान प्रतिभागी शिल्पियों से लिए गए साक्षात्कार के आधार पर मुखौटों से सम्बन्धित जानकारी प्रलेखन के उद्देश्य से एकत्रित की गई है। इसलिए इसकी प्रामाणिकता को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। हिमाचल प्रदेश में हालांकि अनेक स्थानों में अनेक प्रकार के मुखौटे बनाए जाते हैं, लेकिन यहां केवल उन मुखौटों के स्थान तथा निर्माण-शैली आदि का उल्लेख है जो कार्यशाला के दौरान निर्मित किए गए हैं।

काष्ठ मुखौटे

लकड़ी के मुखौटों के निर्माण के लिए किन्नौर, कुल्लू, सिरमौर तथा चम्बा ज़िलों के शिल्पियों ने कार्यशाला में भाग लिया।

लकड़ी के मुखौटे तैयार करने के लिए प्राय: आरी, बसोला, निआण, रन्दा, पथरी, हथोड़ी, गेरमेट, रेगमार, छैंणी, चोसा आदि औजारों का प्रयोग किया जाता है। मुखौटा टूटने पर या लकड़ी के टुकड़ों को जोड़ने के लिए कील, फैवीकोल का प्रयोग किया जाता है।

किन्नौर

स्थानीय बोली में मुखौटे को 'बग्ग' कहा जाता है। किन्नौर से सांगला व सुंगरा क्षेत्रों में अखरोट की लकड़ी से मुखौटों का निर्माण किया जाता है। लकड़ी के एक बड़े पीस को खोद व तराश कर मुखौटा तैयार किया जाता है। नाक, कान के लिए लकड़ी के अलग टुकड़ों को तराशने के बाद जोड़कर भी प्रयोग में लाया जाता है। मुखौटे के चेहरे पर अधिक रंग का प्रयोग नहीं होता है। आंखों में काला तथा सफेद, होंठ व जिह्वा पर लाल, दांतों में सफेद रंग का प्रयोग होता है। इसके अलावा आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं रंगों का प्रयोग किया जाता है। मुखौटे को चमकाने के लिए वार्निश या स्थानीय तरीके में चीड़ के वृक्ष का रुलदू उबाल कर तैयार किया तरल पदार्थ प्रयोग में लाया जाता है। किन्नौर में काली, जिबटा (राक्षस), शेर, हाथी, गरुड़, आदमी, औरत, बच्चा आदि के मुखौटों का निर्माण किया जाता है।

ज्येष्ठ महीने की संक्रांति से 15 प्रविष्टे तक रात्रि को मेला लगता है जिसे जेष्ठन सवां के नाम से जाना जाता है। इस अवसर पर काली का दोष हटाने के लिए मुखौटे पहन कर 'बूढ़ा-छंग' नृत्य किया जाता है। छंग का अर्थ है बच्चा। इस नृत्य में लगभग 15-20 कलाकार नृत्य करते हैं।

तहसील सांगला के शिल्पकारों सर्वश्री उरगिन-डण्डुव, रूबीलाल तथा सुन्दर लाल ने कार्यशाला के दौरान जिबटा, राक्षस, आदमी, औरत (तीन), राक्षस काली, नरसिंह, छोसिन, लोमड़ी व हाथी के कुल 12 मुखौटों का निर्माण किया।

कुल्लू

देवी-देवता के मुखौटों को कुल्लू की स्थानीय बोली में मोहरे कहा जाता है। तहसील बंजार के क्षेत्रों में प्रचलित मढियाल आनुष्ठानिक नृत्य में प्रयोग किए जाने वाले मुखौटों को 'मढियाले' कहा जाता है। इन मुखौटों को कुछ स्थानों पर 'ऋषे' भी कहा जाता है। एक प्रकार का मुखौटा 'ऋषि' के नाम से भी प्रचलित है। ऋषे व मढियाले बनाने के लिए पहले मुहूर्त निकाला जाता है। निर्माण से पहले परम्परा से मेढ़े की बलि दी जाती है तथा तैयार होने के उपरान्त इसकी प्रतिष्ठा कराई जाती है। ऋषि का मुखौटा टेढ़े मुंह वाला बनाया जाता है।

मढियाले नामक मुखौटे प्राय: अखरोट की लकड़ी से तैयार किए जाते हैं। कभी-कभार शीशम, तोश आदि की लकड़ी का भी प्रयोग कर लिया जाता है। इन मुखौटों पर अधिक रंगों का प्रयोग नहीं होता है। आंख में काला व सफेद, दांत पर सफेद, होंठ पर लाल रंग का प्रयोग होता है। इसके अलावा कोई विरला रंग ही मुखौटे में प्रयोग होता है। कच्चे रंग में पानी, सरेश तथा कड़वा तेल मिश्रित किए जाते हैं।

फाल्गुन मास के 4 प्रविष्टे तक फाग मेले का आयोजन होता है। यह मेला केवल दिन में ही होता है। इस मेले के दौरान मन्दिर में पूजा होती है। ऋषि का मुखौटा पहनकर नारायण के पुजारी कार लगाते हैं। उसके उपरान्त भगवान विष्णु की सुखपाल घर-घर जाती है। मढियाले ओढ़ कर लोग घर-घर जाते हैं। ऋषि का मुखौटा मन्दिर से बाहर नहीं ले जाया जाता। इस दौरान परम्परागत राजपूत घराने का बड़ा भाई मुखौटा पहनता है। इस मौके पर ढाड (ढोल समान वाद्य) आदि वाद्य यन्त्रों का प्रयोग होता है। सिर में ऊन का टोप लगाया जाता है तथा शड़ूली (जंगल की घास) पहनी जाती है। घर-घर जाकर आशीष देते हुए कामना की जाती है कि पशुओं को बीमारी न लगे, प्रचण्ड शक्तियों से बचाव हो; गुप्त रोग न लगे, अच्छी फसल हो, धन प्राप्त हो तथा परिवार सुखी हों। मूड़ी (भुने हुए अन्न) पूडे आदि का प्रसाद दिया जाता है।

कार्यशाला में तहसील बंजार के सर्व श्री चेपादास, केवली राम तथा तहसील आनी से सर्वश्री सेबीराम व अमरचन्द ने कुल 15 मुखौटे देवता बडरापी, देवता जड़, देवता नाग (दो); देउ, खीदू नाग-देवता, औरत (दो), आदमी (पांच) ऋषि (दो) का निर्माण किया।

कुल्लू की तहसील निरमण्ड में शिवरात्रि तथा बैशाख में निरशु मेला के दौरान स्वांग के लिए मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। यह मुखौटे खाल, अखरोट व बरास की लकड़ी से बनाए जाते हैं। शिल्पकार सर्वश्री बिसूराम तथा मस्तराम ने बाघ, आदमी, काली, घोड़ा, बूढ़ी (दो), जोकर, इन 7 मुखौटों का निर्माण किया। विकृत व मज़ाकिया रूप दिखाने तथा व्यंग्य के लिए आदमी व औरत के मुखौटे टेढ़ी आकृतियों में बनाए जाते हैं।

चम्बा

चम्बा के जनजातीय क्षेत्र भरमौर में प्रचलित लोक-नाट्य 'हरणात्तर' में मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। इन मुखौटों को स्थानीय बोली में मुहरे कहा जाता है।

मुहरे मन्दर व ठांग लकड़ी के बजाए जाते हैं जो सपाट होते हैं। मुहरे को सिर पर टोपी की तरह पहने गए नगाल लकड़ी के 'खड़वुनू' के साथ प्रयोग में लाया जाता है। इन मुखौटों पर सफेद रंग किया जाता है। आंखों में लाल व काला तबा जिह्वा व होठों में लाल रंग

प्रयोग होता है। कानों के पास नीला व हरा रंग इन मुखौटों की अलग पहचान के लिए किया जाता है। दाढ़ी व मूंछ के लिए बकरे के बालों का प्रयोग करते हैं।

इन मुखौटों को लोक-नाट्य हरणात्तर में परम्परागत रूप से फाल्गुन उत्सव में होली उत्सव के बाद आठ दिन तक पहना जाता है। श्री दास ने कार्यशाला में तीन मुखौटों का निर्माण किया।

सिरमौर

सिरमौर की स्थानीय बोली में मुखौटे को मुखड़ा कहा जाता है। कुछ क्षेत्रों में सीटू (सिंह) और ब्रागटू (बाघ) नामक मुखौटों का निर्माण किया जाता है। इन मुखौटों को बरास की लकड़ी से निर्मित किया जाता है। यहां मुखौटों को लकड़ी के एक टुकड़े से ही तयार किया जाता है। आंख में काला व सफेद, दांतों में सफेद तथा जिह्वा में लाल रंग का प्रयोग किया जाता है। कातिक महीने में दीपमाला के बाद के दो दिन मेला लगता है। इसमें देवता का बन्धन तोड़ने के लिए दो आदमी इन दो मुखौटों को पहनकर नृत्य करते हैं।

श्री जंमणू राम ने कार्यशाला में चार मुखौटों (2 सीटू तथा 2 ब्रागटू) का निर्माण किया।

लुगदी मुखौटे

लुगदी मुखौटों के निर्माण के लिए किन्नौर व शिमला के शिल्पियों ने इस कार्यशाला में भाग लिया।

बौद्ध धर्म प्रधान क्षेत्रों में लामाओं द्वारा अपने नृत्य-उत्सवों में लुगदी के मुखौटों का प्रयोग किया जाता है।

चिकनी मिट्टी में कागज, रुई, सरेश, लट्ठा के कपड़े जड़ी-बूटी, चंदन, विभिन्न प्रकार के धूप यथा आकूरा, शुक्र, चैंलू तथा विभिन्न प्रकार के रत्नों यथा फिरोजा, मूंगा, हीरा, मोती, मुमेन, ज़ी तथा नीलम का चूरा मिश्रित करके लुगदी तैयार की जाती है।

मिट्टी का एक सांचा तैयार करके उस पर लट्ठे के बारीक कपड़े की एक तह बिछा दी जाती है। उस पर लुगदी की तहें बिछाई जाती हैं। तहें बिछाने तथा चेहरे का आकार देने के लिए लकड़ी के विभिन्न प्रकार के गोल, चपटे, तिरछे औज़ार प्रयोग में लाए जाते हैं।

पहाड़ की चट्टानों में नीला, हरा, पीला, लाल, काला, सफेद पत्थर मिलता है। आग में पत्थर गर्म करने से वह पिघलता है। उसे पानी तथा सरेश में मिला कर रंगने के लिए तैयार किया जाता है। बकरी के सींग को उबाल-उबाल कर निकला तरल पदार्थ सूखा कर रख दिया जाता है जिसे सरेश के बदले प्रयोग में लाया जाता है। लुगदी के मुखौटे के सूखने के उपरान्त उस पर रंग किया जाता है और फिर रंग सूखने के बाद वार्निश करके या चीड़ के वृक्ष का रुलदू उबाल-उबाल कर तैयार तरल पदार्थ को चमक के लिए प्रयोग में लाया जाता हैं। यह सुखौटा प्राय: गिरने पर टूटता नहीं है।

बौद्ध परम्परा के कुछ विशेष मुखौटों में रंगों का विशेष प्रयोग देखा जा सकता है— (1) छोकुयम (धर्मराज)। मुख्य रंग नीला। (2) गुरु रिम्बो छे: (पद्म सम्भव) मुख्य रंग हल्का भूरा। (3) छाकडोर (बज्रपाणि); मुख्य रंग सलेटी। (4) घबकम कवाली (हड्डी का पिंजर), मुख्य रंग सफेद। (5) बोनबोराकटू (तारा-देवी, रक्षा का रूप), मुख्य रंग नीला। (6) चामिन देवता, मुख्य रंग लाल (7) इवी (पुरुष) मेमे (महिला)

मुखौटों का निर्माण देवता की पूजा के बाद ही किया जाता है।

प्रत्येक वर्ष 7 पोष से 10 पोष तक लगने वाले पोष मेला में लामा मुखौटा पहन कर नृत्य करते हैं तथा 10 पोष से 16 पोष तक इन मुखौटों को गाँव ले जाते हैं। इन मेलों में छम्म के अनेक प्रकार के नृत्य किए जाते हैं। मठों में लामा लोग इन मुखौटों को रखते हैं।

इन मुखौटों का निर्माण कार्य प्रायः पोन खानदान वाले करते हैं, जो देवी-देवताओं की मूर्तियां भी बनाते हैं।

सर्वश्री दोरजे राम तथा छेरिंग नमग्याल ने कुल 10 मुखौटों का निर्माण इस कार्यशाला में किया।

शिमला

तहसील जुब्बल के क्षेत्रों में बूढ़ा नामक 'स्वांग' में प्रयोग किए जाने वाले मुखौटों को बूढ़े के नाम से जाना जाता है।

पहले इन मुखौटों को लकड़ी से भी बनाया जाता रहा है। बाद में पेपरमशी से भी मुखौटे तैयार किए जाने की प्रथा आरम्भ हुई।

पेपरमशी शैली में कागज़ को चार-पांच दिन तक भिगो कर कागज़ की लुगदी बनाई जाती है जिसमें मेथी पाउडर तथा आटे की लेवी मिलाई जाती है। मिट्टी से मुखौटे का एक सांचा तैयार किया जाता है। इस सांचे के ऊपर लुगदी की तहें डाल-डाल कर मुखौटा तैयार किया जाता है। लुगदी को ठीक करने व तराशने के लिए लकड़ी के विभिन्न किस्म के चपटे, गोल, नोकदार औज़ार प्रयोग में लाए जाते हैं। इसके इलावा वायरटूल (लकड़ी के दोनों ओर कसी हुई तार) को भी प्रयोग में लाया जाता है।

स्थानीय तरीके से रंग बनाने के लिए गेरु (केसर), सफ़ेद मिट्टी, लकड़ी के धुएं से तैयार काजल, सरसों व चुली का तेल तथा कैल के पेड़ से निकाली गोंद का प्रयोग किया जाता है। काएल को सरसों व चुली के तेल में मिलाकर काजल तैयार किया जाता है। गेरू पानी व गोंद में मिलाकर रंग तैयार किया जाता है। अब तो बाज़ार से ही रंगों को खरीद करके प्रयोग में लाया जाता है।

बिशु मेला के दौरान, लोग देवताओं की गाथाएं व गीत गाते हैं। गाथा व गीतों की समाप्ति के उपरांत दो दलों द्वारा मुखौटे पहनकर 'बूढ़े' नामक स्वांग तथा नृत्य किया जाता है जिनमें दोनों दल आपस में एक-दूसरे को उलाहना देते हैं तथा मज़ाक करते हैं। मुखौटा पहनकर स्वांग व नृत्य इसलिए करते हैं ताकि शर्म न लगे और हर प्रकार का मज़ाक किया जा सके। पात्रों व मुखौटों में बूढ़ी, माली, सियाण, भाड, जेठा बूढ़ा आदि सम्मिलित होते हैं। कार्यशाला में ओमप्रकाश शर्मा ने पांच मुखौटों का निर्माण किया।

कागज मुखौटे, हमीरपुर

ज़िला हमीरपुर के सुजानपुर क्षेत्र में मुखौटों के निर्माण की प्रक्रिया बहुत पुरानी नहीं है। होली उत्सव, जन्माष्टमी व रामलीला में इन मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। पहले ये मुखौटे प्रदेश के बाहर से खरीद कर लाए जाते थे, लेकिन लगभग 30 वर्ष पहले सुजानपुर के श्री कृपाराम ने मुखौटों की निर्माण-प्रक्रिया जयपुर से सीख कर ये मुखौटे स्वयं बनाने आरम्भ

किए तथा अपने पुत्र को भी यह काम सिखाया ।

इन मुखौटों का निर्माण कागज़ से किया जाता है। प्रत्येक मुखौटे के लिए एक सांचा तैयार किया जाता है तथा कागज, मिट्टी, कपड़ा व गूंद से लुगदी तैयार की जाती है। कागज की तहें सांचे पर बिछा, चिपका कर मुखौटा निर्मित किया जाता है। खाली स्थान भरने के लिए लुगदी का प्रयोग किया जाता है। इन मुखौटों को पात्रता के अनुसार विभिन्न रंगों से सजाया जाता है ।

बाली, सुग्रीव, हनुमान, रावण, राक्षस, शूर्पणखा, हरिण, हाथी, गणेश, भालू आदि मुखौटों को तैयार किया जाता है।

कार्यशाला में श्री कृपाराम तथा श्री विजय कुमार ने राक्षस (3), हनुमान (2), शेर, हिरण, जटायु, गाय व हाथी के 10 मुखौटों का निर्माण किया ।

पश्चिम बंगाल

आंखों को छिद्र करके तथा होंठों, दातों की शक्ल बनाने के बाद मुखौटे में पात्रता के अनुसार रंग तथा सजावट की जाती है। सजावट में निकल टिगली मुकुट, कनफेरी, साज, चिड़िया, बतख व मुर्गी के पंख, शलेश टिमली, मटर काठी, जामीर पत्ता, जुही फूल, तार, प्लास्टिक फूल, रोलिक्स माला, रजनी गंधा इत्यादि वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है। मूंछें पटसन के रेशों से तैयार की जाती हैं।

एक कहावत के अनुसार राजा बाण शंकर का भक्त था। उसने चैत-बैशाख महीने की संक्रान्ति पर गाजण मेले में रात्रि को मशाल जलाकर छाऊ नाच आरम्भ करवाया।

छाऊ नाच में रामायण, महाभारत तथा गणेश के खेल खेले जाते हैं। कार्यशाला में श्री गोपालचन्द्र सूत्रधर तथा उनके पुत्र सुंदाश सूत्रधर ने घटोत्कच्छ, अही रावण, किरात (दो), किरातिन (दो), हनुमान, चोबा, व्रानर इन 9 मुखौटों का निर्माण किया।

खाल आदि के मुखौटे, जिला सिरमौर

जिला सिरमौर के लिए राजगढ़ (सिरमौर) के शिल्पियों ने खाल के मुखौटों का निर्माण किया। हालांकि जानवरों के शिकार की रोक के कारण खाल के मुखौटों की परम्परा खत्म-सी हो गई है फिर भी पुरानी खाल से मुखौटों को तैयार किया गया। स्थानीय भाषा में मुखौटे को मुखड़ा कहते हैं। कुछ मुखौटे लकड़ी के ऊपर खाल लगाकर तैयार किए जाते हैं तथा कुछ को टीन, लकड़ी व तूमड़ी (लौकी) के साथ खाल व ऊन का प्रयोग करके तैयार किया जाता है। इन मुखौटों का प्रयोग 'बूढ़ी दीवाली'—उत्सव के दौरान स्वांग तथा लोक-नाट्य करयाला, एकादशी के मेले, दीपावली के दूसरे दिन सीटू व ब्रागटू नृत्य व स्वांग में किया जाता है। इस क्षेत्र के शिल्पियों ने सीटू मुखौटा खाल से तैयार किया, जिसके अन्दर लकड़ी का प्रयोग किया गया।

सिरमौर, शिमला के क्षेत्रों में अनेक हारें प्रसिद्ध हैं जो वीर-गाथाओं व पारस्परिक लड़ाई से सम्बन्धित होती हैं। ऐसी गाथा से सम्बन्धित नाटक व स्वांग रचाने के लिए भी मुखौटों का प्रयोग किया जाता है।

सर्वश्री यज्ञदत्त शर्मा, श्याम सिंह तथा देवी राम ने बकराक्षस, साधु, खोपड़ी, सीट औरत, आदमी (छः) व भालू इन 12 मुखौटों का निर्माण किया।

धातु मुखौटे, कुल्लू

ताम्बे व पीतल धातु से देवी-देवताओं के मुखौटे तैयार किए जाते हैं। इन मुखौटों को स्थानीय बोली में मोहरे कहा जाता है। टांके के लिए सुहागा या पीतल, चांदी आदि का डांगा प्रयोग में लाया जाता है। गन्धक व शोरे के तेजाब से सफाई करके चमक लाई जाती है तथा सोने का पानी चढ़ाया जाता है। मिट्टी या चीनी के बर्तन में पानी, तेजाब और सोने की डली या पत्ती रखकर मुखौटा साफ किया जाता है।

कार्यशाला में श्री ताबे राम ने पीतल से घटोत्कच्छ व हिडिम्बा के दो मुखौटे तैयार किए।

हिमाचल प्रदेश में विभिन्न मुखौटों की बिक्री नियमित रूप से नहीं होती है। आवश्यकतानुसार कभी-कभार ही मुखौटों का निर्माण होता है। इसके लिए खरीददार जरूरतमन्द द्वारा अनाज तथा पैसे भी दिए जाते हैं। मूल्य मेहनत व लकड़ी की कीमत पर निर्भर करता है।
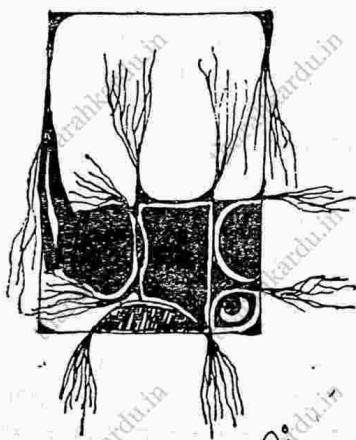
यशपाल जयन्ती पर सृजन-संवाद

□ मुरारी शर्मा

पिछले दिनों प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग के अन्तर्गत स्थापित 'यशपाल सृजन पीठ' के तत्वावधान में हिमाचल के खूबसूरत शहर नाहन में यशपाल जयन्ती पर सृजन संवाद के अन्तर्गत कहानी और कविता पर दो दिवसीय गोष्ठी का आयोजन किया गया। इस अवसर पर सृजन पीठ के अध्यक्ष सुप्रसिद्ध कथाकार श्री निर्मल वर्मा भी उपस्थित थे।

कहानी गोष्ठी से पूर्व विभाग के निदेशक श्री ललित ने यशपाल सृजनपीठ के क्रिया-कलापों और उद्देश्यों के विवरण के साथ-साथ वर्तमान वर्ष की गतिविधियों का ब्योरा भी दिया तथा साथ ही उन्होंने धर्मशाला और मंडी में हुई सफल गोष्ठियों का जिक्र भी किया।

इस गोष्ठी में रचना पाठ और पढ़ी गई रचनाओं पर तत्काल बातचीत होना तय था। इसके लिए रचनाकारों, समीक्षकों व पर्यवेक्षक साहित्यकारों को आमंत्रित किया गया था। सबसे पहले युवा कहानीकार राजकुमार राकेश ने ग्रामीण राजनीति पर आधारित कहानी 'आठवां वोट' पढ़ी। बहस को शुरू करते हुए विपाशा के संपादक तुलसी रमण ने कहा कि 'लोक जीवन का व्यापक अनुभव होने के कारण लेखक ग्रामीण परिवेश में ही खो जाता है और कहानी पीछे रह जाती है जबकि समीक्षक के रूप में आमन्त्रित वयोवृद्ध पत्रकार श्री रामदयाल नीरज का कहना था कि कहानी का प्रारंभ चरित्र-चित्रण में ही गुजर जाता है, आधी कहानी के बाद कहानी में कुछ गतिशीलता आती है। कहानी में चित्रण तो है पर दिशा नहीं है। कथा-शैली में काव्यात्मकता होने पर भी तारतम्य में टूटन है। कहानी का अन्त राजनैतिक बुराइयों का भाण्डा फोड़ता है। राजकुमार राकेश की कहानी पर प्रो० चतुर सिंह ने अपनी प्रतिक्रिया में कहा कि कहानीकार ने ग्रामीण राजनीति के माध्यम से राष्ट्रीय स्तर की राजनीति व स्थिति का चित्रण किया है। इसके साथ इसमें जातिवाद को बढ़ावा भी दिया गया है। सतीशधर का मानना था कि राकेश की अधिकांश कहानियों का कथानक एक-सा ही रहता है।

दूसरी ओर केशवचन्द्र का मानना था कि कहानी में ग्राम्य परिवेश की तस्वीर झलकती है, जिसमें राजनैतिक टुच्चापन व आपसी अहं की टकराहट होती है। डा० प्रत्यूष गुलेरी ने कहा कि कहानी में विस्तार है और शैली कमजोर है फिर भी ग्रामीण परिवेश पर लेखक की पकड़ है। कवि कलाकार अवधेश कुमार ने कहा कि इस तरह के विषय पत्रकारिता में उठाए जाते रहे हैं।

श्री निर्मल वर्मा ने बहस को समेटते हुए कहा कि अछूते विषयों को छूना कहानी की विशेषता है। नए अनुभव का आभास कराना आज की कहानी की मांग है। पुराने सत्यों तक

पहुंचने के लिए, नए अनुभवों की आवश्यकता होती है। जब लेखक अपने विचारों को सामान्य आदमी पर थोपने या आरोपित करने का प्रयास करता है तो वह कहानी की हत्या कर देता है। हर व्यक्ति अपने जीवन के सत्यों को अपने ही जीवन के बीहड़ रास्तों से प्राप्त करता है।

प्रथम सत्र की दूसरी कहानी सुदर्शन वशिष्ठ की 'घरबोला' भी शहरी और ग्रामीण जीवन के बीच के सफर को तय करती हुई थी। समीक्षकों द्वारा इसे संतुलित कहानी माना गया। रामदयाल नीरज ने इसे स्मृतियों का मधुर प्रवाह माना। उन्होंने कहा कहानी वर्णनात्मक होने के साथ-साथ पात्र मूक और संवेदनाहीन हैं। इसमें घर को सजीव करने की कोशिश की गई है। कहानी में लेखक ने आज के युवा वर्ग की शहरों की ओर पलायन-प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है। अवधेश कुमार ने कहा कि इसे कहानी न कहकर संस्मरण या उपन्यास अंश कहा जाना चाहिए। क्योंकि इसमें कहानी के तत्वों की कमी है। जबकि प्रो० चतुरसिंह का कहना था कि कहानी में लेखक ने सांकेतिकता का प्रयोग किया है। शिल्प की दृष्टि से कहानी कमज़ोर है। केशवचन्द्र ने वशिष्ठ की कहानी की प्रशंसा करते हुए कहा कि यादों के साए में जीते हुए लेखक की यह अच्छी रचना है। गांवों से युवा वर्ग का पलायन करना मजबूरी है। शहरों से नौकरी के कारण लौट पाना सम्भव नहीं होता! लेखक ने लोक भाषा का अच्छा प्रयोग किया है। यदि कहानी का शीर्षक 'घर बोला' की जगह 'यादें' होता तो बेहतर रहता। कहानी के पाठ के लिए डा० सुशील कुमार फुल्ल, श्री कैलाश भारद्वाज तथा अरुण भारती को भी आमन्त्रित किया गया था लेकिन इन लोगों के न पहुंच पाने से रचना पाठ के लिए केवल दो कहानीकार ही उपस्थित थे। इसलिए श्री तुलसी रमण और अवधेश कुमार से भी अपनी कहानियां पढ़ने को कहा गया।

दूसरे सत्र में तुलसी रमण ने अपनी ताजा कहानी 'शवयात्रा' पढ़ी। इस कहानी पर समीक्षकों ने काफी बहस की। रामदयाल नीरज ने कहा कि कहानी का इतना विस्तृत और विशाल पटल नहीं होना चाहिए। इसमें शवयात्रा और प्रेमयात्रा दोनों साथ-साथ हैं। सतीशधर ने कहा कि रमण की यह कहानी हर तरह से पूरी है। भाषा के स्तर पर किए गए नए प्रयोग कहानी को जीवन्त बनाते हैं। प्रो० आनन्द बंसल ने कहा कि इसमें अनावश्वक विस्तार नहीं है। लेखक ने प्रेमकथा और शवयात्रा दोनों को बड़े अच्छे ढंग से गुंथा है। केशवचन्द्र ने कहानी के कलेवर को विस्तृत बताया। उनका मानना था कि कथ्य और शिल्प का सामंजस्य होना चाहिए। लोकपक्ष कहानी पर हावी हो गया है। शहरी जीवन की दुरूहता खटकती है। अवधेश कुमार ने कहा कि रमन विस्तार मोह से नहीं बच पाए हैं और निर्मल वर्मा ने भी संक्षिप्त शब्दों में कहा कि कहानी में विस्तार है। सम्भवतः यह अन्तिम रूप में नहीं है। इसे सुधारने की आवश्यकता है। इसके पश्चात अवधेश कुमार ने अपनी कहानी 'धारावाहिक' पढ़ी। इस पर खास चर्चा नहीं हो पाई। सबने इसे अच्छी कहानी माना।

दूसरा दिन कविता गोष्ठी के रूप में था। इसमें श्री आनन्द बंसल, सतीशधर और अवधेश कुमार की कविताओं पर बहस की गई। श्री आनन्द ने, 'हंसता समुद्र' 'मेज' और 'बन रहा है पुल' शीर्षक कविताएं पढ़ीं। उन्होंने अपनी कविताओं में आज की सामाजिक और व्यवहारिक स्थितियों पर चोट की।

यों बेज़ुबान होती है मेज
पसरी रहती है वेश्या की तरह
सुबह से शाम तक; और

भार ढोती है
फाइलों और फैसलों का

प्रो० चतुर सिंह ने आनन्द की कविताओं पर टिप्पणी करते हुए कहा कि इन कविताओं में संवेदनाओं का स्वर सामान्य है। शैली चुस्त है और मुहावरों का सफल प्रयोग किया गया है। कविता में जीवन की व्याख्या है। सतीशधर की नजर में यह कवि का आन्तरिक द्वन्द्व है। उन्होंने इसे अधूरे जीवन की पूरी कविता माना। रामदयाल नीरज ने कहा कि आधुनिक कविता में बिम्बों की झड़ी लगी है और संप्रेषणियता गौण हो जाती है। आम श्रोता के लिए इस तरह की संप्रेषणयिता दुरुह है। श्री निर्मल वर्मा ने कहा कि आनन्द की कविताओं को सुनकर लगा कि मैं काव्य नहीं गद्य सुन रहा हूं। काव्य का मूल गुण शब्दों का सौन्दर्य है जिसका इन कविताओं में अभाव पाया गया है।

इसके पश्चात सतीशधर ने अपनी कविताओं का पाठ किया। तुलसी रमण ने कहा कि सतीशधर की कविताओं में छले जाने पर भी मस्त रहने की त्रासदी का आभास होता है। श्री आनन्द ने बहस में भाग लेते हुए कहा इन कविताओं में भूखे आदमी के लिए रोटी और नंगे के लिए कपड़े की बात की है। भाषा जीवन्त है और कविताएं सुन्दर हैं। श्री रामदयाल नीरज ने कहा कि घर की कविताओं में परिवर्तन नहीं आया है। भाषा साधारण है। सीधी बात साधारण लहजे में कहते हैं। धीरे-धीरे ये कविताएं अपनी पकड़ खो देती हैं।

सतीशधर के पश्चात—अवधेश कुमार ने अपनी कविताओं का पाठ किया, सभी को उनकी कवितायें पसन्द आयीं।

शाम का सत्र खुला सत्र था इसमें हरेक रचनाकार को अपनी रचना पढ़ने का मौका दिया गया। कुछ रचनाकारों ने ग़ज़लें और कुछ ने मध्यकालीन संवेदना की कविताएं सुनाकर समकालीन हिन्दी रचना पर एकाग्र माहौल को काफी कुछ बदल दिया। युवा कथाकार राजीव ई० सिंह ने अपनी एक कहानी सुनाई। रचना और रचनाकारों के बीच इस तरह के सृजनात्मक संवाद कायम करना एक अच्छी परम्परा है। इसमें सभी रचनाकारों को खुले मंच पर अपनी रचनाओं के मूल्यांकन का एक बेहतर मौका मिला।

समाज में कविता की जगह

□ आनन्द त्रिपाठी

वर्ष 1988 के लिए घोषित साहित्य का तीसरा श्रीकांत वर्मा स्मृति पुरस्कार हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि श्री मंगलेश डबराल को बाबा नागार्जुन के हाथों प्रदान किया गया। पुरस्कार के तौर पर उन्हें पांच हज़ार रुपये का चैक और एक स्मृति चिह्न भेंट किया गया। समारोह की अध्यक्षता प्रख्यात आलोचक डा० नामवरसिंह ने की।

पुरस्कार लेने के बाद श्री मंगलेश डबराल ने समकालीन दौर में कविता पर पड़ रहे दबावों को रेखांकित करते हुए कहा कि हम कवि लोग बेहद दुर्भाग्यपूर्ण दौर में लिख रहे हैं। चारों ओर समाज के विखंडन और राजनीति की लम्पटता का बोलबाला है। समाज और मानवीय संबंधों को तोड़ने वाली शक्तियां आज भयावह रूप से सक्रिय हैं। यह सब समष्टि में रचना और रचनाशीलता पर चौतरफा आक्रमण है।" उन्होंने आगे कहा कि "क्या हम कवि लोग इस भयावह वास्तविकता से जागरूक होकर रचना के मोर्चे पर कोई सार्थक संघर्ष कर पा रहे हैं? समाज में कविता की जगह लगातार घटती जा रही है। वह न किसी संघर्ष का हथियार बनती है और न किसी के आत्मसंघर्ष का संबल बन पाती है। क्या वह सिर्फ एक निरर्थक क्रोध और निरर्थक करुणा बनकर रह गई है। कविता अत्यन्त साधारण भाषा को असाधारण अनुभव में ही बदलने का नाम है। ऐसा क्यों नहीं हो पा रहा है। यह सोचते हुए अपने समकालीनों के साथ मैं अपने को एक चौराहे पर खड़ा पाता हूं।"

पुरस्कार से सम्मानित करने के बाद समारोह के मुख्य अतिथि पद से बोलते हुए बाबा नागार्जुन ने कहा कि "श्रीकांत वर्मा ने आसान भाषा और बेधड़क शैली में लिखा। उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति पर किसी तरह प्रतिबन्ध को स्वीकार नहीं किया। वे उत्कट प्रतिभा के धनी थे। उनकी 'भटका मेघ' और 'दिनारम्भ' संग्रह की कविताएं एक नयी भंगिमा और नयी शैली की शुरुआत करती हैं।"

समारोह के अध्यक्ष डा० नामवर सिंह ने कहा कि ज़रूरी नहीं कि पुरस्कार पाने वाला कवि उस कवि जैसा हो जिसके नाम पर पुरस्कार है। लेकिन भावबोध के कुछ सूत्र ऐसे हैं जो मंगलेश डबराल की कविता को श्रीकांत वर्मा की कविता से जोड़ते हैं।" श्रीकांत वर्मा की 'घर-धाम' तथा अन्य कई कविताओं और मंगलेश डबराल की कविताओं की समानता को रेखांकित करते हुए उन्होंने कहा कि बेघर होने की पीड़ा और घर लौट जाने की आकांक्षा इन दोनों कवियों में है। बेघरपन का एहसास आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की सबसे गहरी अभिव्यक्ति है। इन कवियों के घर लौटने की इच्छा एक सामान्य इच्छा नहीं है बल्कि अपनी जड़ों की ओर

लौटने की तरफ है। क्योंकि वहां लौटकर वह मानवीय संवेदना की आधार भूमि पाता है।"

श्रीकांत वर्मा की पत्नी और सांसद श्रीमती वीणा वर्मा ने कहा कि "यह पुरस्कार लेखकों के बीच संवाद बनाए रखने के लिए शुरू किया गया है। क्योंकि श्रीकांत जी एक संवादप्रिय लेखक थे।" पुरस्कार समिति के अध्यक्ष श्री अर्जुनसिंह ने कहा "श्रीकांत जी उन विरले कवियों में थे जो जीवन के प्रवाह को निरन्तर बनाए रखने की क्षमता रखते थे।"

पुरस्कार समिति के सचिव डा० अरविंद त्रिपाठी ने पुरस्कार स्थापना की पृष्ठभूमि को रेखांकित करते हुए बताया कि "यह पुरस्कार प्रतिवर्ष हिन्दी में सृजनरत उन लेखकों को प्रदान किया जाता है। जिनकी उम्र पुरस्कार वर्ष में 45 वर्ष से अधिक नहीं है।

यह पुरस्कार फिलहाल हिन्दी की दो महत्वपूर्ण विधाओं में दिया जाता है, कविता और कथा साहित्य। वर्ष 1986 में स्थापित यह पुरस्कार उस वर्ष कवि श्री राजेश जोशी को उनके काव्य-संग्रह 'मिट्टी का चेहरा' के लिए दिया गया था, जबकि वर्ष 1987 में यह पुरस्कार श्री मंजूर एहतेशाम को उनके उपन्यास 'सूखा बरगद' के लिए प्रदान किया गया। इस वर्ष यह पुरस्कार फिर कविता के लिए दिया गया है। इस पुरस्कार का निर्णय प्रतिवर्ष पुरस्कार समिति द्वारा गठित एक निर्णायक मंडल की बैठक में किया जाता है जिसमें श्री अर्जुनसिंह अध्यक्ष तथा श्री नेमिचन्द्र जैन, निर्मल वर्मा, कुंवर नारायण, केदारनाथ सिंह, अशोक वाजपेयी तथा वीणा वर्मा निर्णायक मंडल के सदस्य हैं जबकि अरविंद त्रिपाठी इसके सचिव हैं।

श्री मंगलेश डबराल के संग्रह को पुरस्कृत करने के संदर्भ में पुरस्कार समिति के सचिव ने बताया कि निर्णायक मंडल की दृष्टि में "यह काव्यकृति कई दृष्टियों से श्रेष्ठ है। इस संग्रह की कविताओं में अपने परिवेश की समग्र पहचान और लोकजीवन के मार्मिक अनुभवों का एक जीवंत साक्ष्य है। खासतौर से इन कविताओं में मानवीय करुणा की अन्तर्धारा को कवि ने बहुत महीन संवेदना के साथ शब्द दिए हैं। साथ ही ये कविताएं कवि के सरोकारों को भी स्पष्ट करती हैं। काव्य शिल्प और भाषा की दृष्टि से भी यह संग्रह समकालीन कविता के क्षितिज पर मूल्यवान है।" उन्होंने यह भी बताया कि "अगले वर्ष यह पुरस्कार कथा-साहित्य के लिए प्रदान किया जाएगा।

समारोह के अन्त में कत्थक नृत्यांगना उमा शर्मा ने स्व० श्रीकांत वर्मा की कविताओं पर भाव-नृत्य किया। नृत्य से पहले उमा शर्मा ने स्व० श्रीकांत वर्मा के चित्र पर माल्यार्पण करते हुए कहा कि "उनकी कविताओं में गहराई है। अनकहा अनजाना भाव है।" कवि और कविता के प्रति आत्मीयता उमा के भाव-नृत्य में पूरी तौर पर उजागर हुई। ज्वाला प्रसाद का संगीत एवं गायन भी प्रभावशाली था। श्रीमती वीणा वर्मा ने सुश्री उमा शर्मा को कविताओं की सहज नृत्याभिव्यक्ति के लिए बधाई देते हुए पांच हजार रुपये का एक चैक भेंट किया।

गुलेरी और बाबा कांशीराम सम्मान

हिमाचल प्रदेश सरकार के भाषा एवं संस्कृति विभाग के अन्तर्गत विभिन्न भाषाओं के साहित्य तथा कलाओं के लिए दस-दस हज़ार रुपये की राशि के छः राज्य-सम्मान स्थापित हैं। इस वर्ष इनमें से दो सम्मान प्रदान किए गए। 28 दिसम्बर को शिमला के होटल होली डे होम के सभागार में हिन्दी साहित्य रचना के लिए तीसरे चन्द्रधर शर्मा गुलेरी सम्मान से कवि-कथाकार सुश्री रेखा को सम्मानित किया गया तथा पहाड़ी साहित्य के लिए पहला पहाड़ी गांधी बाबा कांशीराम सम्मान पहाड़ी कवि श्री जयदेव 'किरण' को प्रदान किया गया। प्रदेश के वन मंत्री श्री सन्तराम ने ये सम्मान प्रदान किये। दस-दस हज़ार रुपये की राशि के साथ ताम्र-पत्र तथा शाल भी लेखकों की भेंट किए गए।

इस अवसर पर मंत्री जी ने कहा कि प्रदेश में साहित्यिक सांस्कृतिक गतिविधियों को प्राथमिकता व सार्थक दिशा देने के उद्देश्य से गत वर्षों में अनेक नई योजनाएं शुरू की गई हैं और इन पर नियमित कार्यान्वियन भी हुआ है। इससे एक अच्छा माहौल बन सका है। इससे पूर्व प्रदेश सरकार के वित्तायुक्त एवं सचिव (भाषा-संस्कृति) श्री महाराज कृष्ण काव ने कहा कि सांस्कृतिक कार्यक्रमों और गत वर्षों में चलाई गई योजनाओं के अच्छे परिणाम हमारे सामने हैं। अब वर्ष-भर प्रदेश में सांस्कृतिक हलचल बनी रहती है जिसमें हमारे साहित्यकार-कलाकार अधिक गम्भीरता और उत्साह के साथ भाग लेते हैं। उन्होंने कहा कि सातवीं पंचवर्षीय योजना में सांस्कृतिक विषयों का परिचय लगभग 4 करोड़ था और अब आठवीं योजना के लिए इसे बढ़ाकर 10 करोड़ करने का प्रस्ताव है।

इस अवसर पर सुप्रतिष्ठित कथाकार श्री निर्मल वर्मा भी उपस्थित थे। उन्होंने उपस्थित साहित्यकारों व बुद्धिजीवियों को सम्बोधित करते हुए कहा कि लिखना कभी आसान काम नहीं रहा। आज हम ऐसे दौर से गुज़र रहे हैं जब राजनीति ने साहित्य रचना को बुरी तरह आक्रांत कर रखा है।

इससे पूर्व विभाग के निदेशक श्री ललित ने दोनों सम्मानित साहित्यकारों के प्रशस्ति पत्र पढ़े। उल्लेखनीय है कि सुश्री रेखा को यह सम्मान उनके कविता संग्रह 'अपने हिस्से की धूप' पर प्रदान किया गया है। श्री जयदेव किरण को उनके पहाड़ी कविता संग्रह 'पीर पहाड़ा री' के लिए सम्मानित किया गया। सम्प्रति सुश्री रेखा राजकीय महाविद्यालय, शिमला-4 में अंग्रेजी की प्राध्यापिका हैं और श्री जयदेव किरण प्रदेश के स्वास्थ्य निदेशालय में प्रचार अधिकारी हैं।

प्रेमचन्द्र महेश सम्मान

23 अगस्त, 1989 को त्रिवेणी सभागार में वाणी प्रकाशन द्वारा आयोजित पुरस्कार समारोह में युवा कथाकार तरसेम गुजराल को उनके उपन्यास "जलता हुआ गुलाब" पर बाबा नागार्जुन की अध्यक्षता में पुरस्कार के रूप में ग्यारह हज़ार रुपये तथा ताम्रपत्र दिया गया। पुरस्कार हिन्दी के वरिष्ठ कथाकार श्री अमृतलाल नागर ने प्रदान किया।

वाणी प्रकाशन ने संस्थापक श्री प्रमचंद्र महेश की स्मृति में 1987 से 'प्रेमचंद्र महेश सम्मान' तथा 'वाणी पुरस्कार' स्थापित कि गए हैं। 'प्रेमचंद्र महेश सम्मान' के अंतर्गत चालीस वर्ष तक की उम्र के लेखक के हिन्दी उपन्यास (पाण्डुलिपि) पर ग्यारह हज़ार की पुरस्कार राशि भेंट की जाती है, तो 'वाणी पुरस्कार' का आयोजन पचास वर्ष तक की उम्र के अहिन्दी भाषी लेखकों के लिए किया गया है। इसके अंतर्गत साहित्य की प्रमुख विधाओं में से किसी एक पर पांच हज़ार रुपये की पुरस्कार-राशि दी जाती है।

वक्ताओं में डॉ० नामवर सिंह, श्री विश्वनाथ त्रिपाठी, श्री नरेन्द्र कोहली प्रमुख थे। सांस की तकलीफ के बावजूद हिन्दी के शीर्षस्थ कथाकार श्री अमृतलाल नागर ने भी संक्षेप में अपने विचार रखे। उन्होंने कहा कि "मैं आज बोलने की हालत में नहीं हूं। सांस कष्ट दे रही है, लेकिन इतना फिर भी कहूंगा कि हिन्दी उपन्यासों के लगभग 117-120 वर्ष के इतिहास में जितनी तेजी से बदलाव आये हैं कथ्य और शिल्प नये हुए हैं, उनमें जो ताजगी आयी है, उन्हें देखकर अपार संतोष होता है। तरसेम का शिल्प अच्छा लगा, बात मन को छूती है।"

निर्णायक मंडल के सदस्य श्री नरेंद्र कोहली ने कहा कि पंजाब समस्या पर पत्रकारीय ढंग से तो बहुत कुछ लिखा गया है, लेकिन मैंने उपन्यास के रूप में यह पहली कृति देखी है।

पुस्तक का लोकार्पण करते हुए अपनी विशिष्ट शैली में डॉ० नामवर सिंह ने कहा कि श्रद्धेय नागर जी ने अपनी सच्ची सर्जनात्मक उदारता के द्वारा तरसेम गुजराल को आशीर्वाद देकर अपना काम पूरा कर दिया है जो कि एक रचनाकार द्वारा एक युवा रचनाकार के लिए होना चाहिए। लेकिन आप जानते हैं कि रचनाकार भले ही वरदान दे, लेकिन आलोचक शाप देने के लिए अभिशप्त है। और यदि न भी दे, तो उसमें ऐसी ही बू सुनाई पड़ती है, फिर भी, तरसेम गुजराल को मैं नहीं जानता। उनकी पहली ही कृति 'जलता हुआ गुलाब' मैंने पढ़ी। और मैं एक जोखिम भरे विषय पर कलम उठाने का साहस करने के लिए तरसेम गुजराल को बधाई देना चाहता हूं। जलते हुए पंजाब पर कलम उठाना हर व्यक्ति के बस का काम नहीं है और तरसेम गुजराल ने पंजाब में रहते हुए यह जोखिम उठाया, यह एक लेखक के कमिटमेंट का, और उसकी प्रतिबद्धता का बहुत बड़ा प्रमाण है।"

डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी ने इस वर्ष 'वाणी पुरस्कार न दिये जाने के कारण पर प्रकाश डालते हुए कहा कि ग़लत जगह दिया हुआ पुरस्कार कभी-कभी बहुत ग़लत किस्म के प्रोत्साहन का निमित्त बन जाता है और अक्सर अप्रतिभावान लोग अपने-आप को बहुत प्रतिभाशाली समझने लगते हैं। इसलिए हमने यह उचित समझा कि कमज़ोर पाण्डुलिपि को पुरस्कृत करने से अच्छा है कि इस पुरस्कार को न दिया जाये।

अध्यक्ष पद से बोलते हुए बाबा नागार्जुन ने भी तरसेम गुजराल को बधाई दी तथा मगल कामनाएं कीं।

प्रकाशक अशोक महेश्वरी ने आमंत्रित व्यक्तियों को धन्यवाद ज्ञापित किया तथा नये रचनाकारों को प्रोत्साहन देने की अपनी संस्था की प्रतिबद्धता दोहरायी। मंच संचालन डॉ० निर्मला जैन ने किया।

हमीर हठ चित्र सीरीज़

गत अंक में आपने पढ़ा कि हमीर अपनी रानियों और मां से विदा लेने के बाद अलाउद्दीन की सेनाओं से लड़ने के लिए अपनी सेना सहित समरभूमि में गया। दोनों सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ। अंततः हमीर ने अलाउद्दीन को पराजित किया और विजय के उत्साह में हमीर के सैनिक अलाउद्दीन के ध्वज भी छीनकर ले आए। इस चित्र में विजयी सेना को शत्रु के ध्वज छीनकर लौटते हुए दिखाया गया है।

क्रमशः

विपाशा उपहार चित्र

अलाउद्दीन के ध्वज लेकर लौटता विजयी हमीर
भूरीसिंह संग्रहालय चंबा; हमीरहठ सीरीज़ (गुलेर-कांगड़ा शैली 1780-90) चित्र : छ:

कार्यशाला में स्वनिर्मित मुखौटे के साथ कलाकार (ऊपर)

मुखौटे पहनकर हास्य लोक नृत्य (नीचे)